श्री सत्तास्वरूप ग्रन्थ का मूल्य कम करने के लिये प्राप्त हुई

* आर्थिक सहायता *

२१) श्री अशोककुमार दयाचन्दसा जैन, खण्डवा
२१) श्री कैलाशचन्दजी सितावचन्दजी जैन, खण्डवा
२१) श्री सौ० गुणमाला वाई केशरीचन्दजी जैन, खंडवा
१०) श्री सौ० वसन्त वेन, डॉ० माणकचन्द जैन, खंडवा
५) श्री रेशमवाई वेवा झवरचन्दजी घाटे, खंडवा
५) श्री राजकुमार हीरालालजी जटाले, खंडवा
५) श्री सौ० रतनवाई तिलोकचन्दजी जैन, खंडवा
५) श्री जिनेन्द्र भाई झवरचन्दजी घाटे, खंडवा
५) श्री झवरचन्दजी फूलचन्दजी जैन, खंडवा

९८)
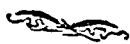
श्री दि० जैन सत् साहित्य प्रसारक ग्रन्थमाला
खण्डवा एवं मलकापुर द्वारा

प्रकाशित पुस्तकें

१ तत्वज्ञान तिरंगिणी
२ सत्तास्वरूप

मूल्य : ५)
लागत मूल्य : १)८०

प्रकाशकीय-निवेदन
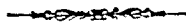
इस छोटे लेकिन अध्यातम रस पूर्ण ग्रंथ, अध्यात्मरसिक जीवों के सामने प्रसिद्ध करने के लिये सहज प्रमोद हो रहा है।

परमपूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के द्वारा वर्तमान में जो अध्यात्म का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है, जिसके कारण आज की नव-युवक पीढ़ी तत्व ज्ञान समझने का भरसक प्रयत्न कर रही है। पूज्य गुरुदेव के कुछ वर्ष पूर्व इस पुस्तक पर प्रवचन हो चुके हैं। जिनकी हिन्दी में "मुक्ति का मार्ग" नाम से छह आवृत्तियां प्रकाशित हो चुकी हैं।

पूज्य गुरुदेव के सत् उपदेश से ही प्रभावित होकर वीतराग सत् साहित्य का जन-जन में, घर-घर में, मन-मन में, और देश-विदेश में प्रचार एवं प्रसार होकर संसार के समस्त जीवों को सत्य की राह मिले व शाश्वत सुख प्राप्त हो, इसी भावना को लेकर श्री दि० जैन सत् साहित्य प्रसारक मंडल की स्थापना श्री शुभ मिती भाद्रपद शुक्ला पंचमी संवत् २०३३ को हुई है।

श्री पं० भागचन्दजी छाजेड़ द्वारा ढूंढारी भाषा में लिखे गये "सत्ता स्वरूप" ग्रन्थ का आधुनिक हिन्दी भाषा में अनुवाद कार्य हमारे भाई श्री जतीशचन्दजी ने बड़ी लगन एवं तत्परता से किया है। इसमें अरहंत भगवान् का स्वरूप, सर्वज्ञसत्ता की सिद्धि तथा मोक्षमार्ग संबंधी अनेक प्रयोजन भूत विषय हैं जो पाठकों को प्राप्त की प्राप्ति में अत्यन्त उपयोगी होंगे। आचार्य कल्प पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी कृत "गोम्मटसारजी" शास्त्र की प्रस्तावना एवं श्री पंडित ब्र० रायमलजी कृत

तव और कछु न सुहावै' इनमें एकाग्र चित्त रहने का लक्षण है। कवि के अब तक ८६ पद उपलब्ध हो चुके हैं जो सभी उच्च स्तर के हैं।

कविवर ओसवाल जाति के दिगम्बर आम्नाय के नररत्न थे। आपकी कविताओं एवं पदों में हृदय की सच्ची अनुभूति झलकती है, वे आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं। आप निरन्तर चिन्तन, मनन और अध्ययन में संलग्न रहते थे। इसी कारण आपके पदों में दार्शनिकता, भाव-विभोरता, तन्मयता एवं आत्मानुभूति के दर्शन होते हैं। मोह को छोड़ विवेक अपनाने वहिर्मुखी के स्थान पर अन्तर्मुखी होने का संकेत उनके प्रत्येक पद में दिखलाई पड़ता है। कविवर किस प्रकार मोक्ष के अभिलाषी हैं देखिये—

कब मैं साधु स्वरूप धरूँगा।।
बंधु वर्ग से मोह त्याग कै, जनकादि जन सौं उबरूँगा।
तुम जनकादिक देह सम्बन्धी, तुमसौं मैं उपजूं न मरूँगा।
श्री गुरु निकट जाय तिन वच सुन, उभयलिंग धर वन विचरूँगा।
अन्तर्मूर्छा त्याग नगन ह्वै, वाहिरता की हेति हरूँगा।
दर्शन ज्ञान चरन तप वीरज, या विधि पंचाचार चरूँगा।
तावत् निश्चल होय आप में, पर परणामनि सौं उबरूँगा।
चाखि स्वरूपानन्द सुधारस, चाह दाह में नाहिं जरूँगा।
शुक्लध्यान बल गुण श्रेणी चढ़ि, परमातम पद सौं न टरूँगा।
काल अनन्तानन्त जथारथ, रहहूँ फिर न विमान चढ़ूँगा।
भागचन्द निरद्वन्द निराकुल, यासो नहिं भव भ्रमण करूँगा।

कविवर की भाषा टीकाएँ सरल भाषा में गूढ़ रहस्य समझाने में समर्थ हुई हैं। इससे कविवर का पांडित्य भी सिद्ध होता है। अपने पदों में कवि ने जैनधर्म एवं मानव धर्म के सिद्धान्तों का भावपूर्ण विवेचन किया है। पंडितजी ने अपने जीवन में जो सेवा-कार्य किये, उन्होंने

उसकी कोई सूची बनाई हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। हाँ, साहित्यिक सेवा कार्य भी उन्होंने अपनी धार्मिक भावना के अनुसार किये हैं।

कहा जाता है कि पंडितजी को अपने अन्तिम जीवन में आर्थिक हीनता का कष्ट सहन करना पड़ा था, क्योंकि लक्ष्मी और विद्या का परस्पर वैर है, नीति भी ऐसी ही है कि पण्डितजन निर्धन होते हैं हाँ इसके प्रतिकूल कुछ अपवाद भी देखने को मिलते हैं। पण्डितजी जहाँ विवेकी थे, वहाँ सहनशील भी थे, उन्होंने द्ररिद्र देव का स्वागत किया, परन्तु किसी से धन पाने की आकांक्षा तक व्यक्त नहीं की, फिर भी एक उदार सज्जन ने उन्हें दुकान आदि देकर उनकी आर्थिक कठिनाई का हल कर दिया था। आर्थिक हल हो जाने पर भी पण्डितजी में वही सन्तोपवृत्ति अपने उसी रूप में दीख रही थी। आपने ५६ वर्ष की आयु पाई थी। आपकी मृत्यु संवत् १९३३ में आषाढ़ कृष्ण द्वादशी के दो बजे दिन को समाधि मरण पूर्वक हुई। अपने भावों एवं कृतियों के अनुकूल कविवर को पण्डित मरण का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

कविवर पं० भागचन्द्रजी के समाधिमरण का दृश्य देखिये—श्री वृद्धिचन्दजी के शब्दों में—(क्षमा भावाष्टक से)

रात रही दोपहर जब, यम ने डाली जाल।
ता बन्धन कूँ काटवे, दियो परिग्रह डाल॥
धर्मी कूं बुलाई आप आयु की चेताई,
काल आन पहुँचो भाई, हम सिद्ध सरण पाई है॥
वस्त्र दूरी डारी, केश हाथ से उपारी,
पद्म आसन कूं धारी, बैठे तृण को बिछाई है॥
अब सांस की चढ़ाई, पहर चार तक पाई,
तबै नवकार सुनाई, पास बैठे सबै भाई है॥

बारस की तिथी पाई दुपैरो पै दो बजाई,
भाईजी पधारे, पर गति शुभ-पाई है ॥

भागचन्दजी को भाईजी कहते थे। इनका समाधिमरण मन्दसौर में ही हुआ। सेठ जोधराजजी मन्दसौर निवासी सेठ हजारीलालजी बाकलीवाल के पितामह थे, इन्हीं सेठ की हवेली में ही आपका समाधिमरण हुआ। 'धन्य वे निरीह विद्वान और गुणानुरागी श्रावक'।

['सन्मति सन्देश' सन् १९७४ के जून व अगस्त अङ्क में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज' एम० ए० जावरा तथा श्री रतनचन्द जैन 'रत्नेश' एम० ए० एम० एड०, व्याख्याता, लामटा द्वारा लिखे गये लेख के आधार से]
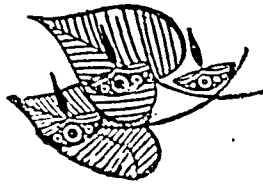
श्री रविषेणाचार्यजी का दीर्घसूत्री मनुष्यों को

उपदेश

(१११ पर्व, पद्म-पुराण से)

"दीर्घसूत्री मनुष्य"

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पल में परलय होयगा, बहुरि करेगा कब ।।

दीर्घ सूत्री मनुष्य अनेक विकल्प करै परन्तु आत्मा के उद्धार का उपाय न करै। तृष्णा कर हता क्षणमात्र में साता न पावै, मृत्यु सिर पर फिरे ताको सुध नाहीं, क्षण भंगुर सुख के निमित्त दुर्बुद्धि आत्म हित न करै, विषय वासना कर लुब्ध भया अनेक भांति विकल्प करता रहै सो विकल्प कर्म बन्ध के कारण हैं। धन-यौवन जीतव्य सब अस्थिर हैं, जो इनकूं अस्थिर जान सर्व परिग्रह का त्याग कर आत्म कल्याण करै तो भवसागर में न डूबै। अर विषयाभिलाषी जीव भव विषै कष्ट सहैं, हजारों शास्त्र पढ़ै अर शांतता न उपजी तो क्या ? अर एक ही पद पढ़कर शांत दशा होय तो प्रशंसा योग्य है। धर्म करिवे की इच्छा तो सदा करबो करै अर करै नाही सो कल्याण कूं न प्राप्त होय, जैसे कटी पक्ष का काग उड़कर आकाश विषै पहुंचना चाहे पर जाय न सकै, जो निर्वाण के उद्यम कर रहित है सो निर्वाण न पावै। जो निरुद्यमी सिद्ध पद पावै तो कौन काहेकूं मुनिव्रत आदरै। जो गुरु के उत्तम वचन उरविषै धार धर्म कूं उद्यमी होय सो कभी खेद-खिन्न न होय। जो साधु द्वारे आया गृहस्थ उसकी भक्ति न करै, आहार न दे सो अविवेकी है ? अर गुरु के वचन सुन धर्म कूं न आदरै सो भव भ्रमण से न छूटै। जो घने प्रमादी हैं अर नाना प्रकार के अशुभ उद्यम कर व्याकुल हैं उनकी आयु वृथा जाय है जैसे हथेली में आया रत्न जाता रहै। ऐसा जान समस्त लौकिक कार्य कूं निरर्थक मान दुःख रूप इन्द्रियों के सुख तिनकूं तज कर परलोक सुधारिवेके अर्थ जिनशासन विषै श्रद्धा करहु।

शास्त्र स्तुति

[पं० बनारसीदासजी कृत]

जिनादेश जाता जिनेन्द्रा विख्याता, विशुद्ध प्रबुद्धा नमों लोकमाता।
दुराचार दुर्नैहरा शंकरानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवाणी ॥१॥
सुधाधर्मसंसाधनी धर्मशाला, सुधातापनिर्नाशिनी मेघशाला।
महामोहविध्वंसनी मोक्षदानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥२॥
अखैवृक्षशाखा व्यतीताभिलाषा, कथा संस्कृता प्राकृता देशभाषा।
चिदानन्द-भूपालकी राजधानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥३॥
समाधानरूपा अनूपा अक्षुद्रा, अनेकान्तधा स्यादवादांकमुद्रा।
त्रिदा सप्तधा द्वादशांगी बखानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥४॥
अकोपा अमाना अदंभा अलोभा, श्रुतज्ञानरूपी मतिज्ञानशोभा।
महापावनी भावना भव्यमानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥५॥
अतीता अजीता सदा निर्विकारा, विषैवाटिकाखंडिनी खंगधारा।
पुरापापविक्षेपकर्तृ कृपाणी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥६॥
अगाधा अबाधा निरंध्रा निराशा, अनन्ता अनादीश्वरी कर्मनाशा।
निशंका निरंका चिदंका भवानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥७॥
अशोका मुदेका विवेका विधानी, जगज्जन्तुमित्रा विचित्रावसानी।
समस्तावलोका निरस्तानिदानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥८॥

सत्तास्वरूप

卐 卐

卐

श्री वीतरागाय नमः

सत्तास्वरूप

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान ॥

इस जीवको सुख इष्ट है, वह सुख सर्व कर्मोंके नाशसे प्राप्त होता है, जोरसे प्रकट नहीं होता। कर्मोंका नाश चारित्रसे होता है और वह चारित्र प्रथम सम्यक्त्व अतिचार रहित हो तथा चारों अनुयोगोंके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत वस्तुका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि रहित यथार्थ ज्ञान हो तब होता है। तब प्रमाद-मद आदि सब दूर हो जाते हैं और शास्त्रोंका श्रवण, धारण, विचारणा, आम्नाय, अनुप्रेक्षा सहित अभ्यास करता है; इसलिये सर्व कल्याणका मूल कारण एक आगमका यथार्थ अभ्यास है। इस संसार-वनमें परिभ्रमण अनादिकालसे है इसलिये जीवनमें शास्त्राभ्यासका अवसर मिलना महान दुर्लभ है, क्योंकि संसारमें बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्यायमें व्यतीत होता है, वहाँ केवल एक स्पर्शन इन्द्रियका ही किंचित् ज्ञान है, तथा दो इन्द्रिय आदि असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंतको तो विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है। तथा नरकगतिमें शास्त्राभ्यास करनेका समय ही नहीं, किसी जीवको पूर्ववासनासे अन्तरंगमें हो तो कदाचित् हो; तथा देवगतिमें नीचजातिके देव हैं, उन्हें जो विषय-सामग्री मिली है उसीमें वे अत्यन्त आसक्त हैं; उन्हें तो धर्मवासना ही उत्पन्न नहीं होती, और जो उच्च पदवी वाले देव हैं उन्हें धर्मवासना उत्पन्न होती है। विशेषरूप से मनुष्यादि पर्यायोंमें धर्मसाधनकी योग्यतासे ही ऐसे पदकी प्राप्ति होती है। तथा मनुष्य-

श्री वीतरागाय नमः

सत्तास्वरूप

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान ॥

इस जीवको सुख इष्ट है, वह सुख सर्व कर्मोंके नाशसे प्राप्त होता है, जोरसे प्रकट नहीं होता। कर्मोंका नाश चारित्रसे होता है और वह चारित्र प्रथम सम्यक्त्व अतिचार रहित हो तथा चारों अनुयोगोंके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत वस्तुका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि रहित यथार्थ ज्ञान हो तब होता है। तब प्रमाद-मद आदि सब दूर हो जाते हैं और शास्त्रोंका श्रवण, धारण, विचारणा, आम्नाय, अनुप्रेक्षा सहित अभ्यास करता है; इसलिये सर्व कल्याणका मूल कारण एक आगमका यथार्थ अभ्यास है। इस संसार-वनमें परिभ्रमण अनादिकालसे है इसलिये जीवनमें शास्त्राभ्यासका अवसर मिलना महान दुर्लभ है, क्योंकि संसारमें बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्यायमें व्यतीत होता है, वहाँ केवल एक स्पर्शन इन्द्रियका ही किंचित् ज्ञान है, तथा दो इन्द्रिय आदि असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंतको तो विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है। तथा नरकगतिमें शास्त्राभ्यास करनेका समय ही नहीं, किसी जीवको पूर्ववासनासे अन्तरंगमें हो तो कदाचित् हो; तथा देवगतिमें नीचजातिके देव हैं, उन्हें जो विषय-सामग्री मिली है उसीमें वे अत्यन्त आसक्त हैं; उन्हें तो धर्मवासना ही उत्पन्न नहीं होती, और जो उच्च पदवी वाले देव हैं उन्हें धर्मवासना उत्पन्न होती है। विशेषरूप से मनुष्यादि पर्यायोंमें धर्मसाधनकी योग्यतासे ही ऐसे पदकी प्राप्ति होती है। तथा मनुष्य-

पर्यायमें अनेक जीव तो लब्ध्यपर्याप्तक हैं, उनकी आयु श्वासके
अठारहवां भाग मात्र है, इसलिये वे जीव तो पर्याप्ति पूर्ण नहीं करते
और कदाचित् अल्पआयु हो तो गर्भमें या बाल्यावस्थामें ही मरण
हो जाता है तथा दीर्घआयु हो तो शूद्र आदि नीच कुल में उत्पन्न होते हैं
और उच्च कुल भी मिल जाये तो इन्द्रियोंकी परिपूर्णता या शरीरकी
निरोगता का मिलना दुर्लभ है और उससे अच्छे नगरादिमें उत्पन्न
होना दुर्लभ है, वहां भी धर्म की वासनाका (रुचिका) होना महा
दुर्लभ है। तथा वहां भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरुका सत्समागम मिलना
महा दुर्लभ है, वहां भी पूजा-दान-शील संयमादि व्यवहारधर्मकी
वासना तो कदाचित् उत्पन्न हो सकती है परन्तु जिससे अनादि
मिथ्यात्वरोग नाश हो ऐसे निमित्तका मिलना उत्तरोत्तर महा दुर्लभ
जानकर इस निकृष्ट कालमें जिनधर्मका यथार्थ श्रद्धानादि होना तो
कठिन ही है, परन्तु तत्त्वनिर्णयरूप धर्म है वह बाल-वृद्ध, रोगी-निरोगी,
धनी-निर्धन, सुक्षेत्री-कुक्षेत्री इत्यादि सर्व अवस्थाओंमें होने योग्य है,
इसलिए जो पुरुष अपने हितके इच्छुक हैं उनको सर्वप्रथम ही तत्त्व-
निर्णयरूप कार्य करना योग्य है। इसीलिए कहा है कि :—

* न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशान्तरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो न न भयं पीडा न परस्यापि न॥
सावद्यं न न रोगजन्मपतनं नैवान्यसेवा न हि।
चिद्रूपस्मरणे फलं बहु कथं तन्नाद्रियन्ते बुधा॥
(तत्त्वज्ञानतरंगिणी अ. ४ श्लोक १)

तथा जो तत्त्वनिर्णयके सन्मुख नहीं हुए हैं उनको उलाहना
दिया है।

---

* अर्थः—इस परमपावन चिद्रूपके स्मरण करनेमें न किसी प्रकारका क्लेश
उठाना पड़ता है, न धनका व्यय, देशान्तरमें गमन, और दूसरेसे प्रार्थ
करनी पड़ती है। किसीप्रकारकी शक्तिका क्षय, भय, दूसरेको पीड़ा, पा

÷ साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहुणा ॥
(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २०)

वहां जो शास्त्राभ्यासके द्वारा तत्त्वनिर्णय तो नहीं करते और विषय-कषायके कार्योंमें ही लीन हैं वे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं और जो सम्यक्त्वके विना पूजा, दान, तप, शील, संयमादि व्यवहार-धर्ममें लीन हैं वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं। जबकि तुम्हें भाग्योदयसे मनुष्यपर्याय मिली है तो सर्वधर्मका मूल कारण सम्यक्त्व और उसका मूल कारण तत्त्वनिर्णय तथा उसका मूल कारण शास्त्राभ्यास वह अवश्य करने योग्य है, परन्तु जो ऐसे अवसरको व्यर्थ खोते हैं उनपर बुद्धिमान करुणा करते हैं; कहा है कि—

* प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्टु, दुर्लभा सान्यजन्मने ।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥१४॥
(आत्मानुशासन)

इसलिये जिनको सच्चा जैन बनना हो उनको शास्त्रके आश्रयसे तत्त्वनिर्णय करना योग्य है, परन्तु जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते

रोग, जन्म-मरण और दूसरेकी सेवाका दुःख भी नहीं भोगना पड़ता इसलिये अनेक उत्तमोत्तम फलोंके धारक भी इस शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेमें हे विद्वानों ! तुम क्यों उत्साह और आदर नहीं करते ? यह नहीं जान पड़ता।

÷ अर्थः—स्वाधीन उपदेशदाता गुरुका योग मिलने पर भी जो जीव धर्म-वचनोंको नहीं सुनते वे धीठ हैं और उनका दुष्ट चित्त है। अथवा जिस संसारभयसे तीर्थंकरादि डरे उस संसारभयसे रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं।

* अर्थः—इस संसारमें विचाररूप बुद्धि होना ही दुर्लभ है, और परलोकके लिए बुद्धि होना तो अति दुर्लभ है। ऐसी बुद्धि प्राप्त होने पर भी जो प्रमाद करते हैं उन जीवोंके प्रति ज्ञानियोंको शोच होता है।

और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सर्व कार्य करते हैं सो उनके सर्व कार्य असत्य हैं। इसलिये आगमका सेवन युक्तिका अवलम्बन, परम्परा गुरुओंका उपदेश, स्वानुभव द्वारा तत्वनिर्णय करना योग्य है। वहाँ जिनवचन है वह चारों अनुयोगमय है उसका रहस्य जानने योग्य है। जिनवचन तो अपार हैं उनका पार तो गणधर देव भी नहीं पा सके, इसलिये उनमें जो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत वस्तु है उसे तो निर्णय करके अवश्य जानना। कहा है कि—

* अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओवयं च दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जि जरमरणक्खयं कुणादि ॥९८॥
(पाहुड-दोहा)

वहां मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत वस्तुएं क्या-क्या हैं वह बतलाते हैं। जिनधर्म-जिनमत, देव-कुदेव, गुरु-कुगुरु, शास्त्र-कुशास्त्र, धर्म-कुधर्म-अधर्म, हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्व-कुतत्व, मार्ग-कुमार्ग-अमार्ग, संगति-कुसंगति, संसार-मोक्ष, जीव-अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, वस्तु, द्रव्य, गुण, पर्याय, द्रव्यपर्याय, अर्थपर्याय, व्यंजनपर्याय, असमानजाति, विभावद्रव्य व्यंजनपर्याय, स्वभाव व्यंजनपर्याय स्वभावअर्थपर्याय, शुद्ध अर्थपर्याय, अशुद्ध अर्थपर्याय, सामान्यगुण और विशेषगुण इसप्रकार सत्ताका निश्चय करके अब उनका स्वरूप कहते हैं :—

वहाँ सर्वज्ञके व्यवहार-निश्चयरूप दो प्रकारकी कथनीके आश्रित दो जातिके गुण पाये जाते हैं, तथा बाह्य-अभ्यन्तररूपसे गुण दो प्रकारके हैं, अथवा निःश्रेयस, अभ्युदयके भेदसे गुण दो प्रकारके हैं, तथा वचन विवक्षासे संख्यात गुण पाये जाते हैं और वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे अनंतगुण पाये जाते हैं। सो उनको सत्यार्थज्ञान द्वारा यथावत्

---

* अर्थ:—श्रुतियोंका अन्त नहीं है, काल थोड़ा और हम दुर्बुद्धि हैं इसलिए केवल वही सीखना चाहिए जिससे तू जन्म-मरणका क्षय कर सके।

जाननेसे स्वरूपका भास होगा, क्योंकि यह जीव अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करता हुआ मिथ्याबुद्धिसे पर्यायके प्रपंचको सच्चा जानकर मग्न हुआ प्रवर्तता है, इसलिए दुःखकी पीड़ा तो बनी रहती है,–उससे तड़फ–तड़फकर अनेक उपाय करता है, किन्तु जो आकुलता इच्छारूप दुःख है वह अंशमात्र भी नहीं मिटता। जिसप्रकार मिर्गीका रोग कभी तो बहुत प्रगट होता है कभी थोड़ा प्रगट होता है और रोग अन्तरंगमें सदा बना रहता है; जब रोगीके पुण्योदय काललब्धि आये, अपने उपायोंसे सिद्धि नहीं हुई जाने, उन्हें झूठा माने तब सच्चा उपाय करनेका अभिलाषी होता है कि अब मुझे सच्चे उपायका निश्चय करके जिससे रोग मिटे वह औषधि लेना है। वहाँ पहले जो उपाय किया था वह सच्चा नहीं था, सो पश्चात् सच्चा उपाय करके जिसका रोग मिट गया हो उस वैद्यसे सच्चा उपाय जाना जाता है, क्योंकि जिसको रोग, औषधि, पथ्य और निरोगताका स्वाश्रित सम्पूर्ण ज्ञान हो वही सच्चा वैद्य है, और वही औरोंको भलीभांति बतलाता है। इससे जिनको मिर्गीके दुःखसे भय उत्पन्न हुआ हो और सचमुच रोगसे पीड़ित हो, तथा सच्ची औषधि वैद्यके द्वारा बतलानेसे आयेगी ऐसी परीक्षाबुद्धि उत्पन्न हुई हो, तथा जिसको मिर्गीका रोग मिटा है उसकी सूरत देखकर उत्साह उत्पन्न हुआ हो वह इन चार अभिप्राय सहित वैद्यके घर जाता है। वहां प्रथम तो वैद्यकी आकृति, कुल, अवस्था, निरोगताका चिह्न एवं प्रकृति आदि उन सबको प्रत्यक्ष जानता है अथवा अनुमानसे या किसीके कहनेसे सम्यक् प्रकारसे निश्चय करता है तब यह अनुभव होता है कि परमार्थसे परका भला करने वाला सच्चा वैद्य यही है। तब स्वयं उससे अपनी सारी स्थिति निष्कपट होकर कहता है कि मुझे इसप्रकारका रोग हुआ है तथा मुझमें रोगकी यह अवस्था होती है अब इस रोगके मिटनेका जो सच्चा उपाय हो वह आप बतलायें। तब वह वैद्य उसे रोगसे दुःखी—भयवान जानकर रोग दूर होनेका सच्चा यथार्थ उपाय बतलाता है। उसे सुनकर औषधि लेना प्रारम्भ करता है। वैद्यको अपना रोग बतलाकर तथा

उसका उपाय जानकर पक्का आस्तिक्य लाता है। जबतक अपना रोग दूर न हो तबतक उस वैद्यका सेवक-अनुचर होकर वर्तता है। नाड़ी दिखलाने, औषधि लेने, दुःख-सुख अवस्थाकी पूछताछ करने, खान-पान आदि पथ्यका विधान पूछने तथा रोग दूर हुआ है इसलिए अपने धैर्य, हर्ष व आराम बतलाने, उनकी मुद्रा देखने इत्यादि प्रयोजनार्थ बारम्बार वैद्यके घर आया करता है तथा उनकी सुश्रूषा-पूजा किया करता है और वे औषधि बतलावें उसे विधिपूर्वक लेता है, तथा पथ्यादिककी सावधानी रखता है। जब उसका रोग दूर होगा तब उसे सुखअवस्था प्राप्त होगी। इसप्रकार निरोग होनेका मूल कारण सच्चा वैद्य सिद्ध हुआ, क्योंकि वैद्य बिना रोग कैसे दूर हो और रोग दूर हुए बिना सुखी कैसे हो ? इसलिये प्रथम अवस्थामें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव त्रिदोषरहित स्वरूपका निर्णय करना योग्य है। वहां रोगका निदान, रोगका लक्षण, चिकित्साका पक्का ज्ञान हो और जिसे राग-द्वेषरूप स्वार्थ न हो वह सच्चा वैद्य है, परन्तु वैद्यके इन गुणोंको तो नहीं पहिचाने और औषधिकी जाति तथा नाड़ी देखना ही जानता हो इत्यादि गुणोंको देखकर यदि वह विषरूप औषधि लेगा तो उसका बुरा ही होगा, क्योंकि जगतमें भी ऐसा ही कहते हैं कि अजान वैद्य यम के बराबर है। जबतक सच्चे वैद्यका सम्बन्ध न हो तबतक औषधि न लेना तो अच्छा ही है परन्तु आतुर होकर अप्रमाणिक वैद्यकी औषधि लेनेसे अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है। वह आप अपने चित्तमें विचार करके देखो, जिसको इलाज करवाना हो वह प्रथम वैद्यका निर्णय करता है। वहां प्रथम तो दूसरेके कहनेसे या अनुमानसे उसके स्वरूपका निश्चय करके वैद्यके प्रति आस्तिक्य लाता है, फिर उसकी कही हुई औषधिका सेवन करता है तथा अपने रोगकी मंदता हो जाने पर वह सुखी होता है और तब स्वानुभवजनित प्रमाणके द्वारा वैद्यका यथार्थपना भासित हो जाता है।

उसीप्रकार इस जीवको आकुलता चिन्ह सहित अज्ञानजनित

इच्छा नामक रोग लग रहा है, इसलिए किसी समय तीव्र आकुलता होती है, किसी समय मन्द आकुलता होती है परन्तु यह इच्छा नामक रोग सदा बना ही रहता है, जब किसी भव्यजीवको मिथ्यात्वादिकके क्षयोपशमसे तथा भली होनहारसे काललब्धि निकट आती है तब अपने किये हुये विषयसेवनरूप उपायोंसे सिद्धि नहीं हुई ऐसा जानकर उसे असत्य मानता है तब सत्य उपायका निश्चय करके अपना इच्छा नामक रोग जिसप्रकार मिटे उसप्रकार सत्य धर्मका साधन करना चाहिये। वहां सत्यधर्मका साधन तो इच्छारोग मिटानेका उपाय है; सो तो जो पहले स्वयं इच्छारोग सहित था और फिर सत्यधर्मका साधन करके जिसे उस इच्छारोगका सर्वथा अभाव हुआ हो उसके बतलाये अनुसार जाना जाता है। क्योंकि राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यक्ज्ञान व वीतरागदशारूप निरोगता उसका आद्योपान्त सच्चास्वरूप स्वाश्रितरूप-से उसीको भासित होता है, तथा वही अन्यको बतलानेवाले हैं, इसलिये जिनको अज्ञानजनित इच्छा नामक रोगसे भय उत्पन्न हुआ हो व सच्चा रोग भासित हुआ हो व उस रोग को मिटानेवाली सच्ची धर्मकथा श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवानकी बतलाई आयेगी तथा जिनको यह इच्छा नामक रोग मिटा है उनकी मूर्ति देखनेसे उत्साह उत्पन्न हुआ हो उसी जीवने रोगीवत् भगवानरूप वैद्यका आश्रय लिया व याचककी भांति शांतरसकी रसिकतासे ऐसे शांतरसकी मूर्ति के दर्शनका प्रयोजन लेकर काय-वचन-मन-नेत्र आदि सर्व अंगसे यथावत् हाव-भाव-कटाक्ष-विलास-विभ्रम हो जाते हैं, तदनुसार चार जातिरूप अपने परिणामोंको बनाकर जिनमन्दिरमें आता है, वहां प्रथम तो आगे अन्य सेवक बैठे हों उनसे गुरुदेवका स्वरूप पूछता है व अनुमानादिकसे निर्णय करता है तथा आम्नायके लिए दर्शनादि करता जाता है, तब स्वयं सेवक बनता है, तथा उनका उपदेशित मार्ग ग्रहण करता है, तथा उनके कहे हुए तत्त्वोंका श्रद्धान करता है जबकि पहले आगम श्रवण या अनुमानादिकसे स्वरूपका सच्चा निर्णय हो चुका हो। परन्तु यदि उसे स्वरूपका सच्चा निर्णय नहीं हुआ, तथा विशेष साधनेका यथार्थ ज्ञान

नहीं हुआ, तो वह निर्णयके विना किसका सेवक होकर दर्शन व जाप्य करता है ? तथा कोई कहता है कि हम तो सच्चे देवको जानकर कुलके आश्रयसे व पंचायतके आश्रयसे पूजा-दर्शनादि धर्मबुद्धिपूर्वक करते हैं उससे कहते हैं कि :—

वे देव तो सच्चे ही हैं, परन्तु तुम्हारे ज्ञानमें उनका सच्चारूप प्रतिभासित नहीं हुआ, जिसप्रकार तुम पंचायत व कुलादिकके आश्रयसे धर्मबुद्धिसे पूजादिकके कार्योंमें वर्तते हो उसीप्रकार अन्यमतावलम्वी भी धर्मबुद्धिसे व अपनी पंचायत या कुलादिकके आश्रयसे अपने देवादिककी पूजादि करते हैं तो तुममें और उनमें विशेष अंतर कहां रहा ? तव वह शंकाकार कहता है कि हम तो सच्चे जिनदेवकी पूजादिक करते हैं और अन्य मिथ्यादेवकी पूजादि करते हैं इतना तो विशेष है। उसे कहते हैं कि धर्मबुद्धि तो तुम्हारे भी नहीं और अन्यको भी नहीं, जिसप्रका दोनों वालक अज्ञानी थे। उन दोनोंमें एक वालक के हाथ हीरा आया और दूसरे के हाथ एक विल्लोरी कांच आया, उन दोनोंने ही श्रद्धापूर्वक उनको अपने आँचलमें वांध लिया, परन्तु दोनों ही वालकोंको उनका यथार्थ मतिज्ञान नहीं है, इस अपेक्षा दोनों ही अज्ञानी हैं। जिसके हाथमें हीरा आया वह हीरा ही है और कांच आया उसके पास कांच ही है। तथा वे कहते हैं :—अन्यमत-वालोंके गृहीतमिथ्यात्व है और हम सच्चे देवादिककी पूजा करते हैं, अन्य देवादिककी नहीं करते, इसलिये हमें गृहीतमिथ्यात्व तो छूटा है, इतना ही लाभ हुआ। उसे कहते हैं :—

तुमको गृहीत मिथ्यात्वका ही ज्ञान नहीं कि गृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ? तुमने तो गृहीतमिथ्यात्व ऐसा माना है कि—अन्य मिथ्यादेवादिका सेवन करना, परन्तु गृहीतमिथ्यात्वका स्वरूप भासित नहीं हुआ है। उसका सच्चा स्वरूप क्या है सो कहते हैं :—

यदि देव-गुरु-शास्त्र-धर्म इत्यादिका वाह्यलक्षणोंके आश्रयसे सत्ता, स्वरूप, स्थान, फल, प्रमाण, नय इत्यादिका निश्चय तो न

हो और लौकिकसे उनका बाह्यरूप भिन्न न माने उसे वाह्यरूपसे भी स्वरूप भासित नहीं हुआ सो अन्यको सेवा करता है तथा कुल-पक्षके आश्रयसे पंचायतके आश्रयसे, संगतिके आश्रयसे तथा प्रभावनादि चमत्कार देखकर व शास्त्रमें और प्रगटमें देवादिककी पूजादिकसे भला होना कहा है उस मान्यताके आश्रयसे सच्चे देवादिकका ही पक्षपातीपनेसे सेवक होकर प्रवर्तता है उसके भी गृहीतमिथ्यात्व ही है। इसप्रकार तो दूसरे भी अपने ही देवको मानते हैं और जिनदेवको नहीं मानते। इसलिये गृहीतमिथ्यात्वका त्याग तो यह है कि—अन्य देवादिकके वाह्यगुणोंको तथा प्रबंधके आश्रयस्वरूप पहले जानकर स्वरूप-विपर्यय-कारणविपर्यय और भेदाभेदविपर्ययरहित ज्ञानमें निश्चय करके, फिर जिनदेवादिकका वाह्यगुणोंके आश्रयसे व व्यवहाररूप निश्चय-करके, पश्चात् अपना मुख्य प्रयोजन सिद्ध न होनेसे हेय-उपादेयपना माननेपर अन्यकी वासना मूलसे छूटती है और जिनदेवादिकमें ही सच्ची प्रतीति उत्पन्न होती है।

वहां प्रथम अवस्थामें गृहीतमिथ्यात्वके लिये तन, धन, वचन, ज्ञान, श्रद्धान और कषाय आदि लगाता था वह व्यवहारसे जिनदेवा-दिका सेवक होकर प्रवर्तता हुआ अब इन दूषणोंसे रहित हर्ष पूर्वक विनयरूप होकर सम्यक्त्वके पच्चीस मलको विचार पूर्वक नहीं होने देता, तन धन वचन ज्ञान श्रद्धान और कषाय आदि उसमें लगाकर सद्भावरूप ही प्रवर्तता है, अन्यमें नहीं प्रवर्तता। अभावको साधता है, परन्तु मिथ्यासद्भावको स्थान नहीं देता, तथा समर्थन नहीं करता और सहकारी कारण नहीं बनता।

वहां देवके कथनमें तो देवसम्बन्धी मिथ्यासद्भाव नहीं करता, अन्यदेव और जिनदेवमें समतारूप प्रवृत्ति नहीं रखता, जिनदेवका (अन्तरंग) स्वरूप और वाह्यरूप अन्यथा नहीं कहता, नहीं सुनता तथा वीतरागदेवकी प्रतिमाका रूप सराग रूप नहीं करता, अविनयादिरूप प्रवृत्ति नहीं करता और वह रूप स्वयं नहीं बनता, व लौकिकमें अतिशय

रूप अन्यथा नहीं कहता, स्वयं अविनय देखे उसका प्रबंध नहीं करता है तथा सच्चे देवादिककी प्रतिमाजीका अविनय होता हो वहांसे बचा रहता है। इसीप्रकार शास्त्रादिका भी जानना। इसप्रकार अन्य देवादिसे सम्बन्ध छोड़ना ही गृहीतमिथ्यात्वका छूटना है।

सच्चे देवादिसे सच्ची प्रवृत्ति व्यवहाररूप विषय-कषायादिके आश्रय रहित करनेसे गृहीतमिथ्यात्व छूटेगा। इसलिये तुम अन्य देवादिसे तो परीक्षा किये बिना ही सम्बन्ध छोड़ो, परन्तु सच्चे देवादिमें तो जैसी पहले औरोंसे सच्ची प्रीति थी, वैसी प्रीति नहीं हुई तो तुम अपने परिणाममें विचार करके देखो! क्योंकि अंतरंग प्रीतिका कार्य बाह्यमें दिखे बिना नहीं रहता। इसलिये गृहस्थ है उसके लिये यह सुगम मार्गरूप कल्याणकी बात है कि वर्तमान क्षेत्र-कालमें सभी अपने-अपने देवादिकसे प्रवृत्ति करते हैं और तुम भी धन, कुटुम्बादिका पोषण, भोग-रोगादिक व विवाहादि कार्योंमें जैसे प्रवर्तते हो वैसे ही पद योग्य अनेक प्रकारसे उसीरूप प्रवर्तो। जब तक तुम्हारेमें विशेष धर्मवासना न बढ़े तबतक उनके हिस्सेका धनादि तो उनके लिए ही लगाते रहो। पहले आप प्रथम अवस्थामें गृहीतमिथ्यात्वके लिए जो करते थे व वर्तमानमें दूसरे तुम्हारी बराबरीके गृहस्थ जो अन्य देवादिके लिए करते हैं उसी भांति माया-मिथ्यात्व-निदानरहित सच्चे देवादिकके लिए तुम उस योग्य हो सो करोगे तभी गृहीतमिथ्यात्व छूटेगा। उनके हिस्सेका तन मन धन वचन ज्ञान श्रद्धान कषायक्षेत्र और कालादि यहां लगाओगे तब बाह्य जैन बनोगे। यदि तुम बाह्यरूप सच्चा आस्तिक्य नहीं लाओ व ज्ञान नहीं करो, क्रिया नहीं सुधारो, धन नहीं लगाते, उल्लास पूर्वक कार्य नहीं करते और आलस्य आदि कर्म नहीं छोड़ो कोरी बातोंसे पांच प्रमादी अज्ञानी भाइयोंसे सम्बन्ध रखकर जैन बने हो तो बनो, परन्तु फल तो शास्त्रमर्यादानुसार प्रवृत्ति करनेसे सच्चा लगेगा। यदि यह अवसर चला जायेगा तब तुम पश्चाताप करोगे और कहोगे कि पहले मिथ्यात्वके कार्यमें हर्षपूर्वक तन मन धन खर्च किया था

परन्तु अब तुम सच्चे जैनमतके सेवक बनो और उसप्रकारके कार्योंमें तन धनादि नहीं लगाओ तो इस मतमें आनेसे भी तुम्हारी शक्ति घट गई अथवा कपटसे लोकको दिखलानेके लिए सेवक हुए हो व उनकी महानता तुम्हें भासित नहीं हुई तथा तुमको उनमें कुछ भी फलकी प्राप्ति होना भासित नहीं हुआ व तुम्हारे हृदयमें यथार्थ रहस्य नहीं उत्पन्न हुआ जिससे तुम स्वयमेव उत्साहित होकर इन कार्योंमें सुखरूप यथायोग्य प्रवर्तन नहीं कर सकते।

अथवा पंचायत या वक्ताके कहनेसे व प्रबन्ध बंधानेके आश्रयसे निराश होकर प्रवर्तते हो तथा तुमको यह कार्य फीके भासित हुए ऐसा लगता है, उसका कारण क्या है ? यहां तुम कहोगे कि रुचि उत्पन्न नहीं होती—उमंगपूर्वक शक्ति चलानेका उद्यम नहीं होता, वहां हम क्या करें ? इसपरसे ऐसा विदित हुआ कि तुम्हारा भविष्य ही अच्छा नहीं है। जिसप्रकार रोगीको औषधि और आहारन हीं रुचता हो, तब समझना चाहिए कि उसका मरण निकट आ गया है, उसी-प्रकार अपने अन्तरंगमें वासना उत्पन्न नहीं होती और मात्र महान् कहलानेके लिए तथा दस पुरुषोंमें सम्बन्ध रखनेके लिए कपट करके अन्यथा प्रवर्तते हो उसमें लौकिक अज्ञानी जीव तुमको भला कह देंगे परन्तु जिनके तुम सेवक बननेवाले हो वे तो केवलज्ञानी भगवान् हैं, उनसे तो यह कपट छिपा नहीं रहेगा तथा परिणामोंके अनुसार कर्म बँधे विना नहीं रहते, और तुम्हारा बुरा करनेवाले कर्म ही हैं, इस-लिए तुमको इसप्रकार प्रवर्तनेमें क्या लाभ हुआ ? तथा यदि तुम इनसे विनयादिरूप, नम्रतारूप व रसस्वरूप नहीं प्रवर्तते तो तुमको उनका महान्पना व स्वामीपना भासित नहीं हुआ। वहाँ तो तुम्हारे अज्ञान आया। तो फिर विना जाने सेवक क्यों हुए ? तुम कहोगे कि हम जानते हैं, तो इन देवादिकके लिए उच्चकार्योंमें मिथ्यात्व जैसी उमंगरूप प्रवृत्ति तो न हुई। जिसप्रकार कुलटा स्त्री परपुरुषको अपना पति जानकर उसरूप कार्य करती थी, उसे अच्छा भोजन खिलाती थी; परन्तु किसी भाग्योदयसे

नयसे स्तोत्रादिकमें उनके किये हुए कहे हैं, क्योंकि उन्होंने जब सत्यमार्ग दर्शाया तब यह जीव शुभमार्गरूप प्रवर्तने लगा और जब शुभमार्गरूप प्रवर्तने लगा तब नवीन शुभकर्मका बन्ध हुआ और जब शुभकर्मका बंध हुआ तब उस शुभकर्मका उदय आया और जब शुभकर्मका उदय आया तब अपने आप रोगादिक दूर हो जाते हैं तथा इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति हो जाती है, इसप्रकार व्यवहारसे श्री जिनदेवको कर्त्ता और अनिष्टका हर्त्ता कहा है। जैसे वैद्य है वह तो औषधि आदिका बतलाने वाला है, परन्तु इस औषधादिकका सेवन जब रोगी करता है तब उसके रोगादिक दूर हो जाते हैं व पुष्टताकी प्राप्ति होती है। परन्तु उनके उपकार स्मरणके लिए व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि वैद्यने हमको जीवनदान दिया व रोगसे निवृत्ति की। उसीप्रकार मार्गका स्वरूप दर्शानेरूप उपकार-स्मरणके लिए स्तोत्रादिकमें ऐसी बात कही है। परन्तु जो इस नयविवक्षाको तो नहीं समझते और उन्हींको कर्त्ता मानकर स्वयं कल्याण-मार्गको ग्रहण न करे और उन्हींसे सिद्धि होना मानकर निश्चिंत रहते हैं वे तो अज्ञानी तथा पापी भी हैं। तथा जो उनको कर्त्ता हर्त्ता मानते हैं और स्वयं भी शक्ति अनुसार शुभकार्योंमें प्रवर्तते हैं वे तो अज्ञानी शुभोपयोगी हैं तथा जो उनको सत्यस्वरूप-सत्यमार्गको प्रकाशित करनेवाला मानते और अपना भला-बुरा होना अपने परिणामोंसे मानते हैं, उसरूप स्वयं प्रवर्तते हैं तथा अशुभकर्मोंको छोड़ते हैं वे जिनदेवके सच्चे सेवक हैं।

वहां जिन्हें जिनदेवका सेवक बनना हो व जिनदेवके उपदेशित मार्गरूप प्रवर्तना हो उन्हें सर्व प्रथम जिनदेवके सच्चे स्वरूपका अपने ज्ञानमें निर्णय करके उसका श्रद्धान करना चाहिए, वहां देवका त्रिदोष रहित मूल लक्षण निर्दोष गुण है, क्योंकि निर्दोष देव ऐसा वाक्य है। वहां देव अर्थात् पूज्य व सराहनीय है, अब यहां देवका निश्चय करना है. वह देव जीव है, इसलिए जीवमें हों ऐसे दोष सर्व प्रकारसे जिसको दूर हुए हैं वही जीव पूज्य एवं श्लाघ्य है। उसीको देव

संज्ञा है, जैसे लौकिकमें हीरा-स्वर्णादिकमें कुछ दोष हो तो उससे उसकी कीमत घट जाती है उसीप्रकार जीवको नीचा दिखानेवाले व उसकी निन्दा करानेवाले अज्ञान-रागादिक दोष उन्हींसे जीवकी हीनता होती है।

क्योंकि बढ़िया कपड़े पहिने हो, सुन्दर सूरत हो, उत्तम कुलका हो और आभूषणादिक पहिने हो परन्तु यदि अल्पबुद्धि हो व विपर्यय हो व क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायसहित हो तो जगत उसकी निन्दा ही करता है। उसीप्रकार जिसमें ज्ञान अल्प हो और कषाय बहुत हो तो उसकी निन्दा ही करते हैं। इसलिए विचार करने पर निन्दा करानेवाले दोष तो अज्ञान-रागादिक ही हैं और गुण सच्चा वीतरागता ही है, क्योंकि पुण्यवान गृहस्थ भी त्यागी तपस्वीकी पूजा करते हैं इसलिए यह जाननेमें आता है कि सर्व लौकिक इष्ट वस्तुओंसे भी त्याग-वैराग्य श्रेष्ठ है। वहां जिनको परिपूर्ण सत्य ज्ञान-वीतरागता प्रगट हुई है वे तो सर्वोत्कृष्ट पूजने योग्य हैं और उन्हींको परमगुरु कहते हैं तथा जिनको पूर्ण सत्यज्ञान वीतरागता प्रगट नहीं हुई वे भी एक देश पूज्य हैं, ऐसा जानना।

प्रश्न :—तुम्हारे देवको ही ज्ञानकी पूर्णता हुई है और अन्य देवोंको नहीं हुई, ऐसा किसप्रकार जाननेमें आया है, सो कहो?

उत्तर :—हम निरपेक्ष होकर कहते हैं कि जिसके वचन व मतमें प्रत्यक्ष-अनुमान-आगम तथा न्यायरूप लौकिक स्ववचनसे विरोध न आये वही सर्वज्ञ वीतराग है, क्योंकि उसको सर्वज्ञ वीतरागपना प्रत्यक्ष तो भासित नहीं होता, प्रत्यक्ष तो केवलीको ही भासित होता है तथा आगममें लिखा हुआ होनेसे ही मान ले तो उसके ज्ञानमें यह विषय नहीं आया, मात्र अन्यके वचनसे मान लिया, वहाँ उसको वस्तुका यथार्थ ज्ञान तो नहीं हुआ केवल वचन श्रवण हुआ है। ऐसे अज्ञानप्रधानीको अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें अज्ञानी कहा है।

इसलिए जो प्रयोजनभूत बातें आगममें कही हैं उनको प्रत्यक्ष अनुमानादिकसे अपने ज्ञानमें निश्चय करके आगमपर प्रतीति होना योग्य है। इन प्रश्नोत्तरोंका विशेष व्याख्यान प्रमाण-निश्चयके कथनमें लिखेंगे। यहाँ अनुमान द्वारा अरिहन्त के स्वरूपका निर्णय होगा।

अनुमान तब होता है कि जब साध्य-साधनकी व्याप्तिरूप सत्य तर्क पहले हो। अब यहाँ असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक तथा अकिंचित्कर इन चार दूषणरहित अन्यथानुपपत्तिरूप साधनका प्रथम ही निर्णय करना। वहाँ तुम जिस अरिहन्तदेवको पूजते हो-प्रतिदिन दर्शन करते हो वह मात्र कुलबुद्धिसे ही करते हो कि लौकिकपद्धति द्वारा ही करते हो कि उनकी प्रतिमा विराजमान है उनकी आकृतिका छोटा-बड़ा आकार व वर्णभेद आदि पर ही तुम्हारी दृष्टि है? अथवा कुछ अरिहन्तका मूलस्वरूप भी भासित हुआ है? तब वे कहते हैं कि कुलपद्धतिमें भी उन्हींका नाम कहनेमें आता है व शास्त्रमें भी सुना है कि अठारह दोषरहित हैं, छियालीस गुणों सहित विराजमान हैं,ध्यानमुद्राके धारक हैं, अनन्त चतुष्टय सहित हैं, समवसरणादि लक्ष्मीसे विभूषित हैं, स्वर्ग-मोक्षके दाता तथा दुःखविघ्नादिकके हर्त्ता हैं। इत्यादि गुण शास्त्रोंसे सुने हैं तथा स्तोत्रादि पाठोंमें पढ़ते हैं उसमें भी वही कथा कही है, इसलिए हम उनका पूजन करते हैं, दर्शन करते हैं। उनको हम कहते हैं कि :—

तुमने जो बातें कहीं वह तो सब सत्य है, परन्तु तुमको इन बातोंका युक्तिपूर्वक ज्ञान, आस्तिक्यता व रसरूप सेवकपना भासित नहीं हुआ, क्योंकि तुम कुलपद्धतिमें उन्हींके कहलाते हो यह तो सत्य है, परन्तु तुम जैन कहलाते हो उसका तो यही अर्थ है कि जिसको जिनदेवका सेवकपना हो वह जैन, जैसे पतिव्रता स्त्री सुख-दुःखादि सर्व अवस्थाओंमें अपने पतिकी ही कहलाती है तथा पुत्र है वह सुख-दुःख अवस्थाओंमें अपने पिताकी जातिका ही कहलाता है उसीप्रकार तुमको तो जिनदेव ही मेरे स्वामी हैं ऐसा उसका

आस्तिक्यभाव सच्चा भासित नहीं होता। सर्व मतवाले अपने-अपने इष्टदेवके सेवक होकर प्रवर्तते हैं, परन्तु तुममें तो यह भी नहीं, इसलिए तुम शीतल दृष्टिसे विचारकर देखो, तथा तुमने शास्त्रोंसे सुना है, परन्तु हम पूछते हैं कि शास्त्रमें तो लिखा ही है परन्तु तुमको कहां भासित हुआ कि देव अठारह दोषरहित हैं ? यहाँ कोई तर्क करता है कि श्वेताम्बरादिक तो युक्तिपूर्वक उत्तर देनेमें समर्थ हैं अथवा दोषरहित हैं तो उनको फूलमाला पहिराना व शरद पूर्णिमाका उत्सव करना इत्यादि दोषके कार्योंको बताते हो तथा इन अठारह दोषोंमें कितने दोष पुद्गलाश्रित हैं, कितने दोष जीवाश्रित हैं व कितने दोष जीव पुद्गल आश्रित हैं यह तो निश्चय किया होता तथा अठारह दोष रहितपना होते ही देवपना आता है, यह निश्चय किया होता व उनके अठारह दोष किसप्रकार कहे गये हैं उनका युक्तिपूर्वक निश्चय किया हो तो फिर दोषसहितमें देवपना नहीं मानते तब इन्हींको मानते, तब अठारह दोषरहित अर्हन्त हैं, ऐसे वाक्य बोलना तुम्हारा सच्चा होता।

तथा तुमने कहा कि वे छियालीस गुणसहित विराजमान हैं परन्तु वे सब अरिहन्तोंमें तो हैं नहीं। तुमने कुछ निर्णय भी किया है कि ऐसे ही कहते जाते हो ? वहां छियालीस गुण तो यह हैं :— जन्मके दस अतिशय, केवलज्ञानके दस अतिशय, देवकृत चौदह अतिशय, आठ प्रातिहार्य तथा चार अनन्तचतुष्टय। परन्तु अरिहन्तदेव तो सात प्रकारके हैं :—

(१) पंचकल्याणकयुक्त तीर्थंकर (२) तीन कल्याणकयुक्त तीर्थंकर (३) दो कल्याणकसंयुक्त तीर्थंकर (४) सातिशय केवली (५) सामान्य केवली। (६) उपसर्ग केवली (७) अन्तकृत केवली।

अब इन सर्व में छियालीस गुण किसप्रकार सम्भवित हैं ? यह तो केवल एक पंचकल्याणकयुक्त तीर्थंकरमें ही ये सर्व पाये जाते हैं। इन सात प्रकारके अरिहन्तों का स्वरूप तो इसप्रकार है :—

(१) जो पूर्वभवमें तीर्थंकर प्रकृति बांधकर तीर्थंकर होते हैं उनको तो नियमसे गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांचों ही कल्याणक होते हैं उनको तो छियालीस गुण होना सम्भवित हैं।

(२) जो इस मनुष्यपर्यायके ही भवमें गृहस्थ अवस्थामें ही तर्थंकरप्रकृति बांधते हैं उनको तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक ही होते हैं, इसलिए उनको जन्मकल्याणके दस अतिशय नहीं होते, केवल छत्तीस गुण ही पाये जाते हैं।

(३) जो इस मनुष्यपर्यायमें ही मुनिदीक्षाके बाद तीर्थंकर-प्रकृति बांधते हैं उनको ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं, इसलिए उनको भी जन्मके दस अतिशय विना छत्तीस गुण पाये जाते हैं।

(४) जिनको तीर्थंकरप्रकृतिका उदय नहीं होता परन्तु जो गन्धकुटी आदि सहित होते हैं उनको सातिशय केवली कहते हैं।

(५) जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ हो परन्तु गंधकुटी आदि न हो उनको सामान्यकेवली कहते हैं।

(६) जो केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लघुअंतर्मुहूर्तमें निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं उनको अन्तकृतकेवली कहते हैं।

(७) जिनको उपसर्गअवस्थामें केवलज्ञान हुआ हो उनको उपसर्गकेवली कहते हैं।

अब अतिशयकेवलीको जन्मके अतिशय तो नहीं होते, मात्र आठ प्रातिहार्य चौदहदेवकृत अतिशय, केवलज्ञानके दस अतिशय तथा चार अनन्तचतुष्टय पाये जाते हैं। सामान्यकेवली, उपसर्गकेवली और अन्तकृतकेवलीको भी जन्मादिकके अतिशय सम्भव नहीं हैं, इसलिए किये विना ही छियालीस गुण सहित अरिहन्तदेव हैं। इसप्रकार कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि छियालीस गुण तो पंचकल्याणकसहित तीर्थंकर हो उन्हींको पाये जाते हैं। तथा ध्यानमुद्रा देखकर पूजते

हो तो उसमें इतनी बात और जानना चाहिये कि ध्यानमुद्रा ऐसी पूज्य क्यों है तथा ध्यानमुद्रा ऐसी ही है, तथा ऐसी ध्यानमुद्रा ही शुद्ध व शुभचिंतवनका आधार है तथा ऐसी सच्ची ध्यानमुद्रा उन्हींको सम्भवित है अन्यको सम्भवित नहीं तथा ऐसी ध्यानमुद्राको हम किसलिए पूजते हैं? यह प्रयोजन विचारना चाहिये। इसप्रकार युक्तिपूर्वक निश्चयकरके जो पूजते हैं, दर्शन करते हैं उन्हींको सच्चे प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

तथा तुम कहते हो कि—अनन्तचतुष्टयमें विराजमान हैं इसलिये उनको पूजते हैं, दर्शन करते हैं, यह तो सत्य है। वे तो अनन्तचतुष्टयसहित विराजमान ही हैं तथा शास्त्रोंमें लिखा हुआ ही है, परन्तु तुमको तो उनका अपने ज्ञानमें निर्णय करना था? अनन्त चतुष्टयका स्वरूप क्या है? तथा उनसे पूज्यपना कैसे आता है और वे इन्हींमें कैसे पाये जाते हैं? व अनन्तचतुष्टय सहितको हम क्यों पूजते हैं? ऐसा भी तुमने कभी निश्चय किया है? कि मात्र लौकिकपद्धतिसे ही ये वचन कहकर पूजते हो? वह तुम भलीप्रकार विचार करके देखो कि उसका तुमको कुछ ज्ञान हुआ है या नहीं?

तथा तुमने कहा कि समवसरणादि–लक्ष्मी सहित है परन्तु वहां प्रथम तो समवसरणादि लक्ष्मी उनको हुई है या नहीं ऐसा प्रमाण चाहिये। तथा समवसरणमें क्या रचना है वह विशेष जानना चाहिये तथा वह रचना वीतरागदेवके निकटमें इन्द्रने क्यों बनायी? इस रचनासे संसारका कैसे पोषण किया जाय? समवशरणादि लक्ष्मीसे उनमें पूज्यपना किसप्रकार आया? तथा समवसरणादि लक्ष्मी सहित जानकर हम उनको क्यों पूजते हैं? ऐसा निश्चयकर पूजने योग्य है।

तथा स्वर्ग–मोक्षका दाता जानकर पूजादिक करते हो सो वे स्वर्ग-मोक्षके दाता किसप्रकार हैं? जैसे कोई दातार किसीको वस्तु देता है व जैसे किसीको धनादिक पैदा करनेकी सलाह देता है और वह स्वयं उस कार्यरूप प्रवर्तता है, तब तो उसे धनादिककी प्राप्ति हो और तभी वह उनका उपकार मानकर कहता है कि यह धन आप ही ने मुझे दिया

एक इच्छारूप रोग अन्तरंग शक्तिरूप उत्पन्न हुआ है उसके चार भेद हैं।
१ मोहइच्छा २ कषायइच्छा ३ भोगइच्छा ४ रोगाभावइच्छा।

वहाँ इन चारमेंसे एककालमें एक ही की प्रवृत्ति होती है। किसी समय किसी इच्छाकी और किसी समय किसी इच्छाकी होती रहती है।

वहां मूल तो मिथ्यात्वरूप मोहभाव एक सच्चे जैन बिना सर्व संसारी जीवोंको पाया जाता है। प्रवृत्तिरूप चार प्रकारकी इच्छाका कार्य इसप्रकार होता है—

(१) प्रथम मोहइच्छाका कार्य इसप्रकार है:—स्वयं तो कर्म-जनित पर्यायरूप वना रहता है, उसीमें अहंकार करता रहता है कि मैं मनुष्य हूं, तिर्यंच हूं इसप्रकार जैसी-जैसी पर्याय होती है उस-उसरूप ही स्वयं होता हुआ प्रवर्तता है। तथा जिस पर्यायमें स्वयं उत्पन्न होता है उस सम्वन्धी संयोगरूप व भिन्नरूप परद्रव्य जो हस्तादि अंगरूप व धन, कुटुम्व, मन्दिर, ग्राम आदिको अपना मानकर उनको उत्पन्न करनेके लिए व सम्वन्ध सदा वना रहे उसके लिये उपाय करना चाहता है। तथा सम्वन्ध हो जाने पर सुखी होना, मग्न होना व उनके वियोगमें दुःखी होना शोक करना अथवा ऐसा विचार आवे कि मेरे कोई आगे-पीछे नहीं इत्यादिरूप आकुलताका होना उसका नाम मोह इच्छा है।

(२) तथा किसी परद्रव्यको अनिष्ट मानकर उसे अन्यथा परिणमन करानेकी, उसे विगाड़नेकी व सत्तानाश कर देनेकी इच्छा वह क्रोध है।

तथा किसी परद्रव्यका उच्चपना न सुहाये व अपना उच्चपना प्रगट होनेके अर्थ परद्रव्यसे द्वेष करके उसे अन्यथा परिणमन करानेकी इच्छा हो उसका नाम मान है।

तथा किसी परद्रव्यको इष्ट मानकर उसे प्राप्त करनेके लिए व सम्बंध वना रखनेके लिए व उसका विघ्न दूर करनेके लिए जो छल-कपटरूप गुप्त कार्य करनेकी इच्छाका होना उसे माया कहते हैं।

तथा अन्य किसी परद्रव्यको इष्ट मानकर उससे सम्बन्ध मिलाने व सम्बन्ध रखनेकी इच्छा होना सो लोभ है।

इसप्रकार उन चार प्रकारकी प्रवृत्तिका नाम कषायइच्छा है।

(३ तथा पांच इन्द्रियको प्रिय लगनेवाले जो परद्रव्य उनको रतिरूप भोगनेकी इच्छाका होना उसका नाम भोगइच्छा है।

(४) तथा क्षुधा-तृषा, शीत-उष्णादि व कामविकार आदिको मिटानेके लिए अन्य परद्रव्योंके सम्बन्धकी इच्छा होना उसका नाम रोगाभाव इच्छा है।

इसप्रकार चार प्रकारकी इच्छा है, उसमेंसे किसी एक ही इच्छाकी प्रबलता रहती है तथा शेष तीन इच्छाओंकी गौणता रहती है। जैसे-मोहइच्छा प्रवल हो तब पुत्रादिकके लिए परदेश जाता है, वहाँ भूख-तृषा, शीत-उष्णतादिका दुःख सहन करता है, स्वयं भूखा रहता है और अपना मान-मद खोकर भी कार्य करता है, अपना अपमानादिक करवाता है, छलादिक करता है तथा धनादिक खर्च करता है, इसप्रकार मोहइच्छा प्रवल रहने पर कषायइच्छा गौण रहती है।

अपने हिस्सेका भोजन, वस्त्रादि पुत्रादि, कुटुम्बियोंको अच्छे-अच्छे लाकर देता है, अपनेको रूखा-सूखा-वासी खानेको मिले तो भी प्रसन्न रहता है। जिस-तिस प्रकार अपने भी भागोंको जबरदस्ती देकर उनको प्रसन्न रखना चाहता है। इसप्रकार भोगइच्छाकी भी गौणता रहती है।

तथा अपने शरीरादिमें रोगादि कष्ट आने पर भी पुत्रादिके लिए परदेश जाता है। वहाँ क्षुधा-तृषा, शीत-उष्णादिकी अनेक बाधायें सहन करता है। स्वयं भूखा रहकर भी उनको भोजनादि खिलाता है। स्वयं शीतकालमें भीगे तथा कठोर विस्तर पर सोकर भी उनको सूखे तथा कोमल विस्तरों पर सुलाता है, इसप्रकार रोगाभाव इच्छा गौण रहती है। इसप्रकार मोहइच्छाकी प्रवलता रहती है।

कषायइच्छाकी प्रबलता होने पर पितादि, गुरुजनोंको मारने लग जाता है, कुवचन कहता है, नीचे गिरा देता है, पुत्रादिको मारता लड़ता है, बेच देता है, अपमानादि करता है, अपने शरीरको भी कष्ट देकर धनादिका संग्रह करता है तथा कषायके वशीभूत होकर प्राण तक भी देता है इत्यादि इसप्रकार कषायइच्छा प्रबल होनेपर मोह-इच्छा गौण हो जाती है।

क्रोधकषाय प्रबल होनेपर अच्छा भोजनादि नहीं खाता, वस्त्राभरणादि नहीं पहिनता है, सुगन्ध आदि नहीं सूँघता, सुन्दर वर्णादि नहीं देखता, सुरीला रागरागिणी आदि नहीं सुनता, इत्यादि विषय-सामग्रीको बिगाड़ देता है, नष्ट कर देता है अन्यका घात कर देता है तथा नहीं बोलने योग्य निंद्य वाक्य बोल देता है इत्यादि कार्य करता है।

मानकषाय तीव्र होने पर स्वयं उच्च होनेका, दूसरेको नीचा दिखानेका सदा उपाय करता रहता है। स्वयं अच्छा भोजन लेने पर सुन्दर वस्त्र पहिनने पर, सुगन्ध सूँघने पर, अच्छा वर्ण देखने पर मधुर राग सुनने पर अपने उपयोगको उसमें नहीं लगाता, उसका कभी चितवन नहीं करता तथा अपनेको वे चीजें कभी प्रिय नहीं लगती; मात्र विवाहादि अवसरोंके समय अपनेको ऊँचा रखनेके लिए अनेक उपाय करता है। लोभ कषाय तीव्र होने पर अच्छा भोजन नहीं खाता है, अच्छे वस्त्रादि नहीं पहिनता, सुगन्ध विलेपनादि नहीं लगाता, सुन्दररूपको नहीं देखता तथा अच्छा राग नहीं सुनता, मात्र धनादि सामग्री उत्पन्न करनेकी बुद्धि रहती है। कंजूस जैसा स्वभाव हो जाता है माया कषाय तीव्र होनेपर अच्छा नहीं खाता, वस्त्रादि अच्छे नहीं पहिनता, सुगन्धित वस्तुओंको नहीं सूँघता, रूपादिक नहीं देखता, सुन्दर रागादिक नहीं सुनता। मात्र अनेक प्रकारके छल-कपटादि मायाचारका व्यवहार करके दूसरोंको ठगनेका कार्य किया करता है इत्यादि प्रकारसे क्रोध-मान-लोभ कषायकी प्रबलता होने पर भोग-

इच्छा गौण हो जाती है तथा रोगाभाव इच्छा मन्द हो जाती है ।

तथा जब भोगइच्छा प्रबल हो जाती है तब अपने पिता आदिको अच्छा नहीं खिलाता, सुन्दर वस्त्रादि नहीं पहिनाता इत्यादि। स्वयं ही अच्छी—अच्छी मिठाइयाँ आदि खानेकी इच्छा करता है, खाता है, सुन्दर पतले बहुमूल्य वस्त्रादि पहिनता है और घरके व कुटुम्बी आदि भूखे मरते रहते हैं, इसप्रकार भोगइच्छा प्रबल होने पर मोह-इच्छा गौण हो जाती है ।

अच्छा खाने-पहिनने, सूंघने, देखने, सुननेकी इच्छा करता है, वहां कोई बुरा कहे तो भी क्रोध नहीं करता, अपना मानादि न करे तो भी नहीं गिनता, अनेक प्रकारकी मायाचारी करके भी दुःखोंको भोगकर कार्य सिद्ध करना चाहता है तथा भोगइच्छाकी प्राप्तिके लिए धनादि भी खर्च करता है । इसप्रकार भोगइच्छा प्रबल होने पर कषायइच्छा गौण हो जाती है ।

अच्छा खाना, पहिनना, सूंघना, देखना, सुनना आदि कार्य होने पर भी रोगादिका होना तथा भूख-प्यासादि कार्य प्रत्यक्ष उत्पन्न होते जानकर भी उस विषय-सामग्रीसे अरुचि नहीं होती; जिसप्रकार स्पर्शनइन्द्रियकी प्रबल इच्छाके वश होकर हाथी गड्ढेमें गिरता है, रसनाइन्द्रियके वश होकर मछली जालमें फँस मरती है, घ्राणइन्द्रियके वश होकर भ्रमर कमलमें जीवन दे देता है, मृग कर्णइन्द्रियके वश होकर शिकारीकी गोलीसे मरता है तथा नेत्रइन्द्रियके वश होकर पतंगा दीपकमें प्राण दे देता है। इसप्रकार भोगइच्छाके प्रबल होने पर रोगाभाव इच्छा गौण हो जाती है ।

तथा जब रोगाभाव इच्छा प्रबल होती है तब कुटुम्बादिको छोड़ देता है, मन्दिर, मकान, पुत्रादिको भी बेच देता है, इत्यादि रोगकी तीव्रता होने पर मोह पैदा होनेसे कुटुम्बादि सम्बन्धियों से भी मोहका सम्बन्ध छूट जाता है तथा अन्यथा परिणमन करता है । इसप्रकार रोगाभाव इच्छा प्रबल होने पर मोहइच्छा गौण हो जाती है ।

कोई बुरा कहे तथा अपमानादि करे तब भी अनेक छल-
पाखण्डकर व धन खर्च करके भी अपने रोगको मिटाना चाहता है।
इसप्रकार रोगाभाव इच्छाके प्रबल होनेपर कषायइच्छा गौण हो जाती है।

तथा भूख-तृषा, शीत-गर्मी लगे व पीड़ा इत्यादि रोग उत्पन्न
हो जाये तब अच्छा-बुरा, मीठा-खारा और खाद्य-अखाद्यका भी
विचार नहीं करता, खराब अखाद्य वस्तुको खाकर भी रोग मिटाना
चाहता है, जैसे पत्थर व बाड़के कांटादि खाकर भी भूख मिटाना चाहता
है, इसप्रकार रोगाभाव इच्छा होने पर भोगइच्छा गौण हो जाती है।

इसीप्रकार एक कालमें एक इच्छाकी मुख्यता रहती है और
अन्य इच्छाकी गौणता हो जाती है, परन्तु मूलमें इच्छा नामक रोग
सदा बना रहता है।

जिनको नवीन-नवीन विषयोंकी इच्छा है उन्हें दुःख स्वभाव
ही से होता है यदि दुःख मिट गया हो तो वह नवीन विषयोंके लिए
व्यापार किसलिए करे ? यही बात श्री प्रवचनसारमें कही है कि:—

* जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावरो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

(श्री प्रवचनसार अधि० १)

अर्थः—जिसप्रकार रोगीको एक औषधिके खानेसे आराम हो
जाता है तो वह दूसरी औषधिका सेवन किसलिए करे ? उसीप्रकार
एक विषयसामग्रीके प्राप्त होने पर ही दुःख मिट जाये तो वह दूसरी
विषयसामग्री किसलिए चाहे ? क्योंकि इच्छा तो रोग है और इच्छा
मिटानेका इलाज विषयसामग्री है। अब एक प्रकारकी विषयसामग्रीकी

---

* अर्थः—जिन्हें विषयोंमें रति है उन्हें दुःख स्वाभाविक जानो, क्योंकि यदि
वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थमें व्यापार न हो।

ाप्तिसे एक प्रकारकी इच्छा रुक जाती है परन्तु तृष्णा—इच्छा नामक ोग तो अन्तरमेंसे नहीं मिटता है, इसलिए दूसरी अन्य प्रकारकी इच्छा ौर उत्पन्न हो जाती है। इसप्रकार सामग्री मिलते-मिलते आयु पूर्ण े जाती है और इच्छा तो बराबर तबतक निरन्तर बनी रहती है। ासके बाद अन्य पर्याय प्राप्त करते हैं तब उस पर्याय सम्बन्धी वहाँके ार्योंकी नवीन इच्छा उत्पन्न होती है। इसप्रकार संसारमें दुःखी होता ुआ भ्रमण करता है।

तथा अनिष्ट सामग्रीके संयोगके कारणको और इष्ट सामग्रीके वियोगके कारणोंको विघ्न मानते हो, परन्तु आपने कुछ विचार भी किया है? यदि यही विघ्न हो तो मुनि आदि त्यागी तपस्वी तो इन कार्योंको अंगीकार करते हैं, इसलिए विघ्नका मूल कारण अज्ञान-रागादि है, इसप्रकार दुःख व विघ्नका स्वरूप जानो तथा उसका इलाज सम्यक्दर्शन-ज्ञान—चारित्र है और उसके स्वरूपका उपदेश देकर प्रवृत्ति करानेवाले श्री अरिहन्त देवाधिदेव हैं। इसप्रकार दुःख तथा विघ्नका हर्ता जानकर वे पूजने योग्य हैं। कदाचित् तुम उनको विषयसुखका कर्ता तथा रोगादि विघ्नोंका हर्त्ता मानकर पूजोगे तो यह कार्य तो पूर्वपार्जित कर्मके आधीन हैं इसलिए तुमको जिनदेवके पूजने पर भी लौकिक दुःख विघ्न आदि असाताके उदयसे होते हैं अब ऐसी दशामें तुमको जिनदेवकी आस्तिक्यता किस प्रयोजनके आश्रयसे स्थिर रहेगी वह बताओ? इसलिए सर्वप्रथम दुःख तथा विघ्नका स्वरूप निश्चय करके फिर इस प्रयोजनके अर्थ पूजने योग्य हैं, इसप्रकार तुम शास्त्रानुसार गुणका वर्णन करते हो परन्तु तुमको गुणोंका तथा गुणधारक गुणीका सच्चा स्वरूप ज्ञानमें तो निश्चय नहीं हुआ इसलिए प्रथम उसका स्वरूप निश्चय करके सेवक बनना योग्य है।

प्रश्नः—अर्हन्तका सच्चा स्वरूप क्या है वह कहो?

उत्तरः—निश्चयरूप अन्तरंग लक्षण तो केवलज्ञान वीतरागता-दिपना है तथा बाह्य लक्षण स्वयं जीवादि पदार्थोंका सच्चा मूल

नरकपर्याय दुःखमय ही है, वहाँ धर्मवासनादिका उत्पन्न हो
महादुर्लभ है. किसी जीवको मनुष्य-तिर्यञ्चपर्यायोंमें हुई वासना निरि
रह जाये तो वह बनी रहती है ।

देवपर्यायमें बहुत देव तो भवनत्रिक अर्थात् भवनवासी, व्यंत
और ज्योतिषियोंमें निचलेपदके धारक हैं उनको तो मिथ्यात्व विष
कषाय और भोगोपभोग सामग्री आदिका विषयरूपसे अनुराग हो
है, इसलिए अनेक जीव तो वहाँसे मरकर एकेन्द्रिय होते हैं, त
कोई उच्चपदके धारक जीव तो प्रथम मनुष्यपर्यायमें धर्म-साधना
है उसके फलसे होते हैं परन्तु ऐसे जीव थोड़े होते हैं ।

मनुष्यपर्यायमें अनेक जीव तो लब्ध्यपर्याप्तक हैं, उन
श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण आयु है क्योंकि संसारी जीवराशि
सर्व मनुष्य उनतीस अंक प्रमाण हैं इसलिए एकेन्द्रियादि सर्व
राशिसे अत्यन्त अल्प संख्यामात्र हैं। वहाँ भी बहुत जीव तो भो
भूमिया हैं, इसलिए वहां तो देवादिका तथा धर्मकार्योंका सम्बन्ध
नहीं है । तथा कर्मभूमिमें अनेक जीव तो गर्भ ही में अल्प आयु
धारक मरते हुये देखे जाते हैं, और कदाचित् गर्भमें पूर्ण अवस्
हो तो जन्म होनेके बाद अनेक जीव अल्प आयुके धारक मरते हु
दिखाई देते हैं तथा कोई दीर्घ आयुको प्राप्त हो तो उच्चकुल प्रा
करना महा दुर्लभ है। उससे पांच इन्द्रियोंकी पूर्णता व शरीरा
सर्व सामग्री उत्तम प्राप्त करना महा दुर्लभ है, उससे उत्तम संगति
सम्बन्ध मिलना व व्यसनादिसे बचा रहना महा दुर्लभ है। उस
अन्तरंगमें धर्मवासना होना तथा परलोकके भय और पापसे भयभी
होना उत्तरोत्तर महा दुर्लभ है। कदाचित् उसकी भी प्राप्ति हो जाये
तो मिथ्याधर्म वासनाका अभाव तथा उससे बचे रहनेरूप कार्य अत्यन्त
दुर्लभ है। तथा उससे भी बच जाये तो जैनाभासी जो श्वेताम्बर
संवेगी, रक्ताम्बर, पीताम्बर, काष्ठासंघी इस कलिकालमें उत्पन्न हुई
मिथ्याधर्म समान जैनधर्ममें भी प्रतीति उनसे बचना महादुर्लभ है।

यद्यपि उनसे वचना हो जाये तो कुलक्रमसे और पंचायतके भयसे मिथ्यादेवादिसे वचना हो जाये तो महाभाग्य है। परन्तु सच्चे देवादिकी वैसी यथावत् विनयादिरूप प्रवृत्ति नहीं हुई, तथा वहां भी कोई जीव तो अपने ज्ञानमें निर्णय किये विना ही अज्ञानी साधर्मीके संघमें मग्न होकर विनय तथा उज्ज्वलता बढ़ानेवाली द्रव्यरूप पूजा तप त्याग आदि बाह्यक्रियामें ही निमग्न होकर रहता है। तथा कुछ जीव वक्ताके उपदेश आदि कथनसे स्वरूपनिर्णय भी करते हैं, वहां अपने ज्ञानमें आगमके आश्रयसे वह शिक्षा याद रखते हैं और अपनेको वस्तुस्वरूपका ज्ञानी मानकर संतुष्ट हो रहे हैं परन्तु युक्ति–हेतुपूर्वक उसका ज्ञान करते तथा कोई हेतु–युक्ति भी सीख लेता है तो वहाँ आगममें कहा है वैसा ही निश्चय करके वस्तुस्वरूपका निर्णय हुआ मान लेता है परन्तु जिनमतमें आगम–आश्रय–हेतु तथा स्वानुभव विना किस अपेक्षा अबाध व सबाध है ऐसा निर्णय नहीं करता तथा कोई जीव बाह्यगुणोंसे व्यवहाररूप वस्तुका युक्तिपूर्वक निर्णय भी कर लेता है परन्तु निश्चयाश्रित सच्चा स्वरूप नहीं भासित हुआ इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

इसप्रकार इस संसारमें अनन्तानंतकाल परिभ्रमण करते–करते ही व्यतीत हुआ है, इसलिये अब तुम्हें कहते हैं कि:—अब तो इतनी बातोंका अवश्य निर्णय कर लो कि–आगमसे, युक्तिसे तथा स्वानुभवसे संसारमें परिभ्रमण ऐसे ही होता है कि नहीं होता है? तथा संसारमें ऊपर कही हुई सब बातें दुर्लभ हैं कि नहीं हैं? अब तुमको अनध्यवसायी रहना योग्य नहीं, यह मनुष्यपर्यायरूपरस प्राप्त करना महा दुर्लभ है, नहीं तो फिर पछताओगे और कुछ गरज सरेगी नहीं। अनन्तानन्त जीव इसीप्रकार दुःखी होते हुए काल व्यतीत करते हैं, परन्तु अब तुमने इस अवसरको प्राप्त किया है। मनुष्यपर्याय, उच्चकुल, दीर्घआयु, पांचइन्द्रियोंकी परिपूर्णता सुक्षेत्रमें निवास, सत्संगतिका मिलना, पापमें भयभीत

होना, धर्मबुद्धिका पैदा होना, श्रावककुलकी प्राप्ति, सच्चे शास्त्रका श्रवण, सच्चे उपदेशदातारका सम्बन्ध मिलना, सच्चे मार्गका आश्रय मिलना, सच्चे देवादिके निकट दर्शन–पूजन इत्यादिका करना तथा भक्तिरूप व आस्तिक्यतारूप परिणामोंका होना इत्यादि उत्तरोत्तर महादुर्लभ है, सो इसकालमें भी महाभाग्यके उदयसे यह सब बातें प्राप्त हुई हैं।

अब तुमको पूछते हैं कि:–तुम प्रतिदिन मन्दिरमें आते हो वहाँ तुम मन्दिरजीमें जो प्रतिमाजी विराजमान हैं उसे ही देव जानकर संतुष्ट हो रहे हो कि तुमको प्रतिमाजीका छोटा–बड़ा आकार, वर्ण व पद्मासन–कायोत्सर्गासन आदि ही दिखाई देता है या जिनकी यह प्रतिमा है उनका भी स्वरूप भासित हुआ है? सो तुम अपने चित्तमें विचारकर देखो! यदि भासित नहीं हुआ तो ज्ञान बिना किसका सेवन करते हो? इसलिए तुमको यदि अपना हित करना हो तो सर्व आत्महितका मूल कारण जो 'आप्त' उसका सच्चास्वरूप निर्णय करके ज्ञानमें लाओ। क्योंकि–सर्व जीवोंको सुख प्रिय है, सुख कर्मोंके नाशसे होता है, कर्मका नाश सम्यक्चारित्रसे होता है, सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है। सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है, आगम किसी वीतरागपुरुषकी वाणीसे उत्पन्न होता है तथा वाणी किसी वीतरागपुरुषके आश्रयसे है। इसलिये जो सत्पुरुष हैं उनको अपने कल्याणके लिये सर्व सुखका मूल कारण जो आप्त अर्हन्त सर्वज्ञ उनका युक्तिपूर्वक भले प्रकार सबसे प्रथम निर्णय करके आश्रय लेने योग्य है, कहा है कि:—

* सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः।

* अर्थ:—सर्व जीव सत् सुखकी प्राप्तिको शीघ्र चाहते हैं; वह प्राप्ति सर्व कर्मके क्षयसे होती है, सर्व कर्मका क्षय चारित्रसे होता है; चारित्र ज्ञानमें नियत है; ज्ञान आगमसे होता है; आगम यथार्थ उपदेशमेंसे

सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ।।९।।

(आत्मानुशासन)

इसप्रकार रागादि सर्व दोषरहित जो आप्त, उनका निश्चयपना ज्ञानमें करना। वहां वह जो अज्ञान–रागादि दोषरहित ही हैं, प्रतिमा भी उनकी ही है तथा शास्त्रोंमें निर्वाधरूपसे उनका स्वरूप लिखा ही है, परन्तु अब जिनका उपदेश सुनते हैं, जिनके कहे हुए मार्गपर चलते हैं व जिनकी सेवा, पूजा, आस्तिक्यता, जाप्य, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार और ध्यान करते हैं ऐसे जो अर्हन्त–सर्वज्ञ उनका प्रथम अपने ज्ञानमें स्वरूप तो भासित नहीं हुआ, तो तुम निश्चय किये विना किसका सेवन करते हो? लोकमें भी इसीप्रकार है कि अत्यन्त निष्प्रयोजन बातका भी निर्णय करके प्रवर्तते हैं तथा आत्महितके मूल आधारभूत जो अर्हन्तदेव उनका निर्णय किये विना ही तुम प्रवर्तते हो यह महान् आश्चर्य है। तथा तुमको निर्णय करने योग्य ज्ञान भी भाग्यसे प्राप्त हुआ है, इसलिए तुम इस अवसरको वृथा मत खोओ। आलस्यादि, छोड़कर उसके निर्णयमें अपनेको लगाओ कि जिससे तुमको वस्तुका स्वरूप जीवादिका स्वरूप, स्व–परका भेदविज्ञान, आत्माका स्वरूप, हेय–उपादेय और शुभ–अशुभ–शुद्ध अवस्थारूप, अपने पद–अपदके स्वरूपका सर्वप्रकारसे यथार्थज्ञान होता है। इसलिये सर्व मनोरथ सिद्ध होनेका उपाय जो अर्हन्त सर्वज्ञका यथार्थज्ञान जिस–प्रकारसे होता है वह प्रथम करने योग्य है। कहा है कि :—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

(प्रवचनसार)

प्रवर्तता है; यथार्थ उपदेश आप्तपुरुष द्वारा होता है; और आप्त रागादि सर्व दोषसे रहित है, इसलिये सत्पुरुष वे सर्व सुखके दातार आप्तको युक्तिसे भलीभांति विचार करके कल्याणके लिए उनका आश्रय करो।

अर्थः—जो द्रव्य-गुण-पर्यायोंसे अर्हन्तको जानता है वही आत्माको यथार्थ जानता है और उसीके मोहका नाश होता है। क्योंकि जो अर्हन्तका स्वरूप है वही अपना स्वरूप है परन्तु विशेपता इतनी है कि वे पहले अशुद्ध थे और रत्नत्रयके साधनसे विभावोंका नाश करके शुद्ध हुए हैं तथा तुमको रत्नत्रयका साधन नहीं हुआ इसलिए वहिरात्मपना वना रहता है।

इसप्रकार श्रीगुरु परम दयालु हैं इसलिये तुमको इस वातमें चित्त लगानेकी प्रेरणा करते हैं। तुम भी दर्शनादि कार्य तो करते ही हो परन्तु उसमें इतना विशेप करना कि अनध्यवसायी गहली आदत छोड़कर प्रथम निर्णय करके दर्शनादि करो। जिसमें चित्त भी भलीभांति स्थिर हो, सुख भी वर्तमानमें उत्पन्न हो तथा आस्तिक्य वना रहे, तव स्वयं अन्य द्वारा चलित किये जाने पर भी विचलित नहीं होंगे। इसलिए सवसे प्रथम अर्हन्तसर्वज्ञका निर्णय करनेरूप कार्य करना यही श्रीगुरुकी मूल शिक्षा है।

वहां जो जीव, प्रमाण ज्ञान द्वारा अर्हन्त देवका, आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्वन, परम्परा गुरुओंका उपदेश तथा स्वानुभवसे निर्णय करके जैन होगा वही मोक्षमार्गरूप सच्चा फल प्राप्त करेगा तथा सातिशय पुण्यवंध करेगा। तथा जो इन वातों द्वारा निर्णय तो नहीं करे और कुलक्रमसे, व्यवहाररूप व वाह्यगुणोंके आश्रयसे, शास्त्रोंसे सुनकरके उनसे अपना हित होना जानकर तथा पंचायतकी पद्धतिसे उसका सेवक होकर अज्ञान-विनयादिरूप परिणमन करेगा उसे सच्चा निश्चय स्वरूप फल तो नहीं आयेगा केवल पुण्यवंध हो जायेगा। तथा जो कुलादि प्रवृत्ति द्वारा पंचायत पद्धतिसे रोगादि मिटानेके लिये अविनयादिरूप अयथार्थ प्रवर्तता है व लौकिक प्रयोजनकी इच्छापूर्वक यथा-अयथा प्रवर्तते हैं और आत्मकल्याणका समर्थन करते हैं उन्हें तो पापवंध ही होता है इसलिये जिनको आत्मकल्याण करना है उनको तो इन दस वातोंके द्वारा निर्णय करके जो सच्चे देव

भासित हो उनमें, आस्तिक्यता लाकर सेवक होना योग्य है। वे दस
वातें क्या हैं उन्हें कहते हैं :—१. सत्ता, २. स्वरूप, ३. स्थान, ४. फल,
५. प्रमाण, ६. नय, ७. निक्षेप-संस्थापना, ८. अनुयोग, ९. आकारभेद,
तथा १० वर्ण भेद। अव उनका समान्य स्वरूप कहते हैं :—

(१) अन्य कोई कहता है कि अर्हन्त देव नहीं व अपने मनमें
ही ऐसा सन्देह उत्पन्न हो जाये तो युक्ति आदिसे व अन्यके उपदेश
आदिसे अर्हन्तदेवके अस्तित्वकी श्रद्धा लानेका वल अपने चित्तमें प्राप्त
होना अथवा अर्हन्तके अस्तित्वकी स्पष्ट भावना हो जाना उसका नाम
सत्तानिश्चय है।

(२) अर्हन्तका वाह्य-अभ्यंतर स्वरूप जैसा है वैसा ही सच्चा
निश्चय होना उसका नाम स्वरूपनिश्चय है।

(३) तथा सांख्य, वौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, नास्तिक, मीमां-
सक, चार्वाक और जैन इन मतोंमें व वर्तमानकालमें श्वेताम्वर, रक्ता-
म्वर, पीताम्वर, ढूंढिया और संवेगी आदि जैनाभासोंमें व अन्य भी
जितने मत हैं उनमें ऐसा सर्वज्ञदेव किस मतमें होता है? ऐसा सत्य
स्थान निर्णय करना वह स्थाननिर्णय है।

(४) ऐसे सत्यदेवके सेवन करनेसे कौनसे फलकी प्राप्ति
होगी उसका निर्णय करना वह फलनिश्चय है।

(५) तथा ऐसे देवका निश्चय किस जातिके ज्ञानमें होगा
सो निर्णय करना वह प्रमाणनिश्चय है।

(६) तथा भगवानके एक हजार आठ नाम हैं, वे किस नय-
की विवक्षासे कहे हैं, उसका निश्चय करना वह नयनिश्चय है।

(७) तथा भावनाकी अपेक्षा कीजिये कि उनकी प्रतिमाके
दर्शन आदि किसलिए किये जाते हैं-किस प्रयोजनसे किये जाते हैं?
उसका निश्चय करना वह संस्थापनानिश्चय है।

(८) प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोगका स्वरूप कहां-कहां कहा है ? उसका निश्चय करना वह अनुयोगनिश्चय है।

(९) तथा मूल भावोंसे प्रतिमाजीका आकार छोटा-बड़ा किसलिये होता है ? उसका निश्चय करना वह आकारनिश्चय है।

(१०) मूल भावोंकी अपेक्षासे प्रतिमाजीका वर्ण और अनेक प्रकारकी काय कैसी होती है ? उसका विचार करना वह वर्णनिश्चय है।

इसप्रकार आपको प्रथम स्वरूपनिश्चय हुआ हो तो प्रतिपक्षीको समझानेका बल रहे तथा अपनी आस्तिक्यबुद्धि भी स्थिर रहे; परन्तु यदि इसप्रकार न हो तो प्रतिपक्षीकी युक्तिका खण्डन भी नहीं कर सकते तथा संशयादि बना रहे तब उसको आस्तिक्यता कहाँ रही ? इसलिए पहले इन बातों द्वारा अवश्य निर्णय करना ही धर्मका मूल है।

अब उनके द्वारा अर्हन्त सर्वज्ञका निश्चय किसप्रकार कर सकते हैं उसका उपाय दर्शाते हैं—वहाँ प्रथम ही सत्तानिश्चय जो अर्हन्तदेव ही हैं ऐसा निश्चय होनेका प्रबंध इसप्रकार कहते हैं—कोई वादी कहे व अपने मनमें ही संशय उत्पन्न हो कि—तुम सर्वज्ञ कहते हो, परन्तु वह सर्वज्ञ ही नहीं। उसका उत्तरः—यदि तुम सर्वज्ञकी नास्ति कहते हो तो किसपरसे कहते हो ? तब वह कहता है किः—मैं सर्वज्ञको किस प्रकारसे मानूँ ?—ऐसा कोई प्रमाण भासित नहीं होता कि जिससे सर्वज्ञको जाना जा सके। इसलिये निश्चय बिना वस्तुका संस्थापन करना वह आकाशके फूल समान है। उसका उत्तरः—तुम्हारे अज्ञान-अन्धकारका समूह फैला हुआ है क्योंकि प्रमाणसे सिद्ध जो सर्वज्ञ है वह भी भासित नहीं हुए और तुम नास्तिकपनेका वचन कहते हो। वही श्री श्लोकवार्तिकमें कहा हैः—

तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलंभनात्।
व्योमांभोजवदित्येतत्तमस्तमविजृंभितम् ॥८॥

(प्रथम अ. पृष्ठ–११)

वहां उसको हम पूछते हैं कि सर्वज्ञको जाननेवाला प्रमाणज्ञान तुमको नहीं है इसलिये तुम सर्वज्ञकी नास्ति कहते हो? कि अन्यमें सर्वज्ञ नहीं इसलिये कहते हो? कि सर्व मतवालोंमें सर्वज्ञ नहीं है इसलिये कहते हो? तब वह कहता है कि–मुझे नहीं है, क्योंकि मुझे सर्वज्ञ दिखा नहीं, इसलिये नास्ति कहता हूं। तब उसको उत्तर देते हैं कि–तुमको नहीं दिखनेसे सर्वज्ञकी नास्ति कहते हो तो अब जो–जो वस्तुएँ तुमको भासित न हों उन सबकी नास्ति कहो, तब तुम्हारा हेतु सिद्ध होता है। वहां समुद्रमें जल कितने घड़े प्रमाण है? अब उन घड़ोंकी गिनती तुम्हारे ज्ञानमें तो नहीं आई, परन्तु समुद्रमें जल तो संख्याकी मर्यादा सहित अवश्य है, तथा तुमसे बड़े चतुर व ज्ञानीके ज्ञानमें उस समुद्रके जलकी प्रमाणता आई ही होगी कि उसमें इतने घड़ा प्रमाण जल है। अब इसप्रकार तो तुममें स्वसंबंधी ज्ञापकानुपलम्भ नामका हेतु–व्यभिचार आया।

जिसप्रकार किसी पुरुषने दिल्ली नहीं देखी, तो उसके न देखनेसे दिल्लीका अभाव तो नहीं कहा जा सकता, अर्थात् दिल्ली तो है ही, उसीप्रकार तुमको सर्वज्ञके देखनेका उपाय तो नहीं भासित हुआ व सर्वज्ञ नहीं देखा तो तुम अज्ञानी हो, तुमको नहीं भासनेसे कहीं सर्वज्ञका अभाव तो नहीं कहा जा सकता, सर्वज्ञ तो हैं ही। इसप्रकार श्री श्लोकवार्तिकमें भी कहा है:—

---

* अर्थ:—जिसप्रकार आकाशके फूलके अस्तित्वको बतलानेवाला कोई प्रमाण प्राप्त न होनेसे आकाशका फूल नहीं है; उसीप्रकार सर्वज्ञके अस्तित्वको बतलानेवाला कोई प्रमाण प्राप्त न होनेसे सर्वज्ञ भी नहीं है–ऐसा मानना यह अंधकारके समूहका फैलाव है।

* स्वसंबंधि यदीदं स्याद्व्यभिचारिपयोनिधेः ।
अंभः कुंभादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥१४।

(प्रथम अ. पृष्ठ-१३)

तथा जो परसम्बन्धी ज्ञापकानुपलम्भ नामक हेतुको ग्रहण करे अर्थात् पर जो अन्य उसको सर्वज्ञ जाननेका उपाय भासित नहीं हुआ व सर्वज्ञको नहीं देखा, इसलिये उस परकी अपेक्षासे सर्वज्ञकी नास्ति कहते हैं। वहाँ उसको पूछते हैं कि तुमसे पर तो हम भी हैं, अब हम कहते हैं कि हमको सर्वज्ञके जाननेका उपायरूप ज्ञान भासित हुआ है, उससे सर्वज्ञको हमने जाना है, इसलिये तुम पर अपेक्षासे सर्वज्ञकी नास्ति किस प्रकार कहते हो? क्योंकि हम तुमको तुम्हारे वचनसे सर्वज्ञका आस्तिक्यतारूप निर्णय करादेंगे और फिर तुम विरुद्ध वचन कहते जाओगे तथा न्याययुक्त जो हमारी सच्ची वात रह जायेगी तो उसमें मतपक्षरूप परस्पर व्याघात होगा। तथा यदि न्यायमें प्रमाण द्वारा उससे सिद्ध नहीं की जायेगी तो हमारी सिद्धि झूँठी रही, इसलिये हमको जिसप्रकार भासित हुई है उसीप्रकार तुमको प्रमाण द्वारा सिद्ध करा देगें। तव तुमको परसंबंधी ज्ञापकानुपलम्भ नामक हेतु सर्वज्ञकी नास्ति साधनेमें झूठा रहा, इसलिये तुमको परकी अपेक्षासे सर्वज्ञकी नास्ति मानना योग्य नहीं। वही वात श्लोकवार्तिकमें कही है:—

× परोपगमतः सिद्धस्स चेन्नास्तीति गम्यते ।
व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥२७॥

(प्रथम अ. पृष्ठ ४१ फुटनोट)

---

* अर्थ:—'सर्वज्ञको वतलाने वाला प्रमाण मुझे स्वयंको उपलब्ध नहीं इसलिये सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा माना जाये तो समुद्रके जलकी (निश्चित) घटसंख्या जो तुझे स्वयंको अज्ञात होने पर भी विद्यमान है उसके साथ व्यभिचार आता है।

× अर्थ:—सर्वज्ञको वतलानेवाला प्रमाण परको (मुझसे अन्य व्यक्तिको)

तथा तुम कहोगे कि—जगतमें सर्वको ही सर्वज्ञ देखनेका उपाय भासित नहीं हुआ व सर्वज्ञ दिखाई नहीं दिये इसलिये सर्व सम्बन्धी सर्वज्ञकी नास्ति कहते हैं, उनसे पूछते हैं कि—तुम्हें सबको सर्वज्ञ न दिखनेका निश्चय कैसे हुआ ? तब वह कहता है कि—मैं सबके चित्तका निर्णय करके कहता हूँ, वहां हम कहते हैं कि—जो सबके चित्तको जाने वही सर्वज्ञ, सो तुमने सबके चित्तको जानी। अब तुम्हारी सबके चित्तको जाननेकी शक्तिकी परीक्षा कर लेंगे। यदि तुम दूर क्षेत्रकी तथा बहुत कालकी बिना देखी स्थूल बात भी बता दोगे तो तुम्हारे सबके चित्तका जानपना सच्चा मान लेंगे। यदि तुमसे दूरक्षेत्रकी तथा बहुत कालकी बात बताई नहीं जा सकती तो तुमको सर्वके चित्तका ज्ञान हुआ है ऐसा किसप्रकार मानें ? तथा जो हुआ है तो तुम्हारा सर्व सम्बन्धी ज्ञापकानुपलम्भ नामक हेतु जो सदोष हुआ। कहते हैं कि—

* सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किंचिद्बोधैर्न शक्यते।
सर्वबोद्धास्तिचेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥१५॥

(श्लोकवार्तिक प्रथम अं. पृष्ठ १४)

उपलब्ध नहीं, इसलिये सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कारण दिया जाये तो तुमसे अन्य व्यक्ति तो मैं भी हूँ कि जिसे सर्वज्ञको जाननेवाला प्रमाण उपलब्ध है, इसप्रकार अन्य व्यक्तियोंकी मान्यतामें परस्पर व्याघात होनेके कारण अन्य व्यक्तिकी मान्यता द्वारा भी सर्वज्ञका अभाव नहीं होता।

* अर्थ:—यदि सर्वज्ञके अस्तित्वको बतलानेवाला प्रमाण सबको प्राप्त नहीं है—ऐसा कहो तो वह सर्व संबंधी जानना अल्पज्ञानसे नहीं हो सकता; तथा यदि वह सर्व संबंधी जानना हो सकता है तो फिर कोई सर्वज्ञ हो सकता है इस बातका निषेध क्यों किया जाता है ?

इसप्रकार तुम्हारे सर्वसम्बन्धि-ज्ञापकानुपलम्भ नामके हेतुको झूठ ठहराया। तब वह कहता है कि—सो तो जाना परन्तु परसंबंधि ज्ञापकानुपलम्भ तो तब झूठा होगा जब तुमको जिसप्रकारके प्रमाण-द्वारा सर्वज्ञका अस्तित्व भासित हुआ है, उसप्रकारसे हमको भी दर्शाओ। जब हमको अस्तित्वका सच्चा निश्चय हो जायेगा तब हम किसलिये—परसंबंधिज्ञापकानुपलम्भ नामक हेतुको सच्चा मानेंगे? वह तो सहज ही अपने आप झूठा हो जायेगा। तब उसको कहते हैं कि:—यदि तुमको सर्वज्ञके अस्तित्वका निश्चय करनेकी अभिलाषा है तो तुम्हें जो अप्रमाणका चश्मा लग रहा है उसको उतारकर प्रमाणका चश्मा लगाओ, क्योंकि अप्रमाणज्ञानमें वस्तुका सच्चा निर्णय सर्वथा नहीं होता, परन्तु प्रमाण ज्ञानसे ही यथार्थ निर्णय होना कहा है। शास्त्रमें वही कहा है कि—

*** प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसंगतः।**

(प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ-६३)

अर्थात् प्रमाणसे ही अपने इष्टकी भले प्रकार सिद्धि होती है तथा जो ऐसा न माने तो प्रमाण और अप्रमाणका विभाग न रहे और इसमें सबको इष्टकी सच्ची सिद्धि होनेसे अतिप्रसंग नामका दूषण आता है। इसलिये वस्तुकी सच्ची सिद्धि प्रमाणसे ही होना मानकर अप्रमाणका चश्मा दूर करने योग्य है। तब उसने कहा कि:—मुझे अप्रमाण ज्ञानका स्वरूप बताओ कि जिसको जानकर मैं दूर करूँ। तब उसको उत्तर देते हैं कि:—

जिस ज्ञान द्वारा वस्तुका स्वरूप अयथार्थ भासित हो उस ज्ञान-का नाम ही अप्रमाणज्ञान है। उसके तीन भेद हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। वहाँ वस्तुके निर्णय करनेमें सच्चा लक्षणका आश्रय

* अर्थ:—प्रमाणसे ही इष्टकी भले प्रकार सिद्धि होती है। अन्य प्रकारसे (अनिष्टकी भी सिद्धि होनेसे) अतिप्रसंग दोष आयेगा।

तो न आये और सपक्ष तथा परपक्षमें नियत जो साधारण धर्म उनके आश्रयसे निर्णय करे, तो वहां दोनों पक्ष प्रवल भासित होंगे तव शिथिल अर्थाङ्कित होकर दुतरफा ज्ञानका रहना उसका नाम संशयज्ञान है।

तथा विपरीत अर्थात् उलटे लक्षणके आश्रयसे वस्तुके स्वरूपका निर्णय करना अर्थात् अन्यथा गुणोंमें यथार्थबुद्धि करनी उसका नाम विपर्ययज्ञान है। तथा ज्ञेय ज्ञानमें तो आवे परन्तु फिर अभिप्राय, स्वरूप इत्यादिका निर्णय न करना उसका नाम अनध्यवसाय ज्ञान है। ऐसे दोषसहित ज्ञान द्वारा वस्तुका सच्चा निश्चय नहीं होता।

तव वह कहता है कि:—सर्व वस्तुओंका सच्चा स्वरूप तो केवलज्ञान विना सर्वथा भासित नहीं होता; तो केवली विना सर्वका ज्ञान क्या मिथ्या ही है? उसका उत्तर श्री श्लोकवार्तिकमें इसप्रकार कहा है कि :—

* **मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न, सम्यगित्यधिकारतः ॥३८॥**

(प्रथम अ. पृष्ठ–१७०)

मिथ्याज्ञान तो सर्वथा प्रमाण नहीं है, क्योंकि शास्त्रोंमें तो सम्यक्ज्ञानकी ही प्रमाणता कही है। वहां जिस प्रकरणमें जिस जातिके ज्ञेयके ज्ञानको विघ्न न हो उस प्रमाणके प्रकरणमें उसप्रकार उस ज्ञेयके ज्ञानको सम्यक्ज्ञान ही कहते हैं। क्योंकि मिथ्याज्ञानसे तो कार्यसिद्धि नहीं होती, इसलिये एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक सर्व जीवोंके अपने-अपने इष्टका साधकरूप सम्यक्ज्ञान होता है, इसलिये केवलज्ञान विना सर्वज्ञान मिथ्या ही है, ऐसा कहना योग्य नहीं। अपने-अपने प्रकरणमें अपने-अपने ज्ञेय संबंधि सच्चे ज्ञातृत्वका अल्प व विशेष ज्ञान सर्वको पाया जाता है, क्योंकि लौकिक कार्य तो सर्व जीव यथार्थ ही करते

---

* अर्थः—सम्यग्ज्ञान प्रमाण है ऐसा (शास्त्रमें) अधिकार होनेसे मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं है (ऐसा सिद्ध होता है। केवलज्ञानके अतिरिक्त अन्य ज्ञान अप्रमाण है ऐसा नहीं)।

हैं, इसलिये लौकिक सम्यग्ज्ञान तो सर्व जीवोंके अल्प या अधिक बना ही रहता है, परन्तु मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत जो आप्तआगम आदि पदार्थ उनका सच्चा ज्ञान सम्यक्दृष्टिको ही होता है तथा सर्वज्ञेयका ज्ञ केवली भगवानको ही है, ऐसा जानना।

तथा लौकिक कार्योंमें भी जहाँ संशय-आदि तीनों ज्ञान हैं वहाँ लौकिक कार्य भी विगाड़ते ही हैं। इसलिये जो तुमको सर्व सत्ता आदिके सच्चे निर्णयका अभिप्राय है तो अपने ज्ञानमेंसे ती दोषोंको दूर कर अपने ज्ञानको प्रमाणरूप करो, तब वह कहते कि:—त्रिदोषरहित प्रमाणज्ञानके कितने भेद हैं व हमको कौन ज्ञान होने योग्य है व इस प्रकरणमें किस भेदका प्रयोजन होगा सो क उसका उत्तर :—

प्रमाणज्ञानके १३ भेद हैं, केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अव ज्ञान, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु तथा श्रोत्रज्ञान, स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान तर्कज्ञान, अनुमानज्ञान तथा आगमज्ञान आदि। तब वह कहते हैं कि :— उनका स्वरूप क्या है? वह सामान्यरूपसे यहां कहनेमें आता है तथा विशेषरूपसे प्रमाण निर्णयमें लिखेंगे।

(१) वहाँ लोकमें रहनेवाले जो सर्व द्रव्य और अलोकाका उनको त्रिकालवर्ती अनन्त गुण-पर्यायों सहित व एक कालमें यथावत जाने उसका नाम केवलज्ञान है।

(२) सरलरूप तथा वक्ररूप चितवन करने पर जीवके चितवनको जाने उस ज्ञानका नाम मनःपर्ययज्ञान है।

(३) मूर्तिक पुद्गलोंके स्कंधको व सूक्ष्म-परमाणुओंको एक कालमें एक ज्ञेयको उसके द्रव्य, क्षेत्र, कालकी मर्यादा सहित स्पष्ट जाने उसका नाम अवधिज्ञान है।

(४) मन और पाँच इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है उसको सांव्यवहारिक ज्ञान कहते हैं वह पुद्गलके अनन्तानन्त परमाणुओंके वादर

स्कन्धको अपने-अपने विषयकी मर्यादासहित एक कालमें एक ज्ञेयको किंचित् स्पष्टरूप जानता है, वहाँ स्पर्शन इन्द्रिय तो अपने आठ विषयोंको जानती है।

(५) रसना इन्द्रिय, पांचों रसोंको जानती है।

(६) घ्राण इन्द्रिय, सुगन्ध-दुर्गन्धरूप जो दो प्रकारकी गन्ध है उसको जानती है।

(७) नेत्र इन्द्रिय, पाँच प्रकारके वर्णोंको जानती है।

(८) श्रोत्र इन्द्रिय, सात प्रकारके स्वरोंको जानती है।

(९) अब पाँच परोक्षज्ञानके भेदोंको कहते हैं। वहाँ पूर्वमें जानी हुई वस्तुका स्मरण होना वह स्मृतिज्ञान है।

(१०) पूर्वमें जानी हुई वस्तुका वर्तमानमें जाने हुए ज्ञेयसे दोनों कालकी सदृश्यता पूर्वक सन्धिरूप जो ज्ञान हुआ उसका नाम प्रत्यभिज्ञान है।

(११) साध्य-साधनकी व्याप्ति अर्थात् यह साध्य, इस साधन-से सिद्ध होगा परन्तु अन्य प्रकारसे सिद्ध नहीं होगा—ऐसे नियमरूप सहचारीपनेको जानना उसका नाम तर्क प्रमाण है।

(१२) चार दोषोंसे रहित साधनसे साध्यको जानना, जहाँ साध्य तो असिद्ध साधनगम्य न हो, वहाँ गम्यमान साधन जो तर्क उससे निश्चय किया गया हो उसके द्वारा असिद्ध साध्यको जानना उसका नाम अनुमान प्रमाण है।

(१३) प्रत्यक्ष-अनुमान अगोचर वस्तुका केवली सर्वज्ञके वचन आश्रयसे ही पदार्थका निर्णय करना वह आगम प्रमाण है।

वहां इस समय इस दुःषम पंचमकालमें केवलज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान तथा अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान तो इस क्षेत्रमें नहीं हैं तथा पांच इन्द्रियज्ञानमें सर्वज्ञका स्वरूप ग्रहणमें नहीं आता, मात्र नेत्रसे उसकी

प्रतिमाजीका वर्ण व आकार व आसनादि तो दिखाई देते हैं परन्तु जो सर्वज्ञका सत्तास्वरूप ज्ञान, वह तो नियमसे नहीं जाना जा सकता। तथा मनमें स्मृतिप्रमाण तो तब होता है कि जब पूर्वमें जाना हो तो याद आवे, परन्तु जिसको पूर्वमें उसका ज्ञान नहीं हुआ उसके स्मृति प्रमाण किसप्रकार उत्पन्न होगा ? तथा पूर्वमें प्रथम जाना हो उसको वर्तमानमें सपक्ष-विपक्ष द्वारा जानकर सदृश्यता-विसदृश्यताका जोड़रूप ज्ञान हो, परन्तु जिसने पूर्वमें सर्वज्ञको नहीं जाना व वर्तमानमें नहीं जाना और सन्धिरूप ज्ञान जिसको नहीं हुआ उसको प्रत्यभिज्ञान किसप्रकार हो सकता है ? तथा आगम प्रमाणमें तो सर्वज्ञवचनके आश्रयसे वस्तुका स्वरूप जान लेता है, परन्तु जिनमतमें तो यह आम्नाय नहीं है, जिनमतमें तो यह आम्नाय है कि वस्तुके नामादिक और लक्षणादिक तो आगमके श्रवण द्वारा ही जाने, फिर मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत जो आप्त-आगमपदार्थादिक उनके स्वरूपको तो आगमसे ही सुनकर प्रतीतिमें ले, उनका तो प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा निर्णयसे आगममें कथन है, वह सच्चा मानना अब मूल प्रयोजनभूत वस्तु जो अर्हन्त सर्वज्ञ उनको आगमके सुननेसे ही प्रतीतिमें लेकर जो संतोष मान लेता है वह भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है। क्योंकि अर्हंत सर्वज्ञका निश्चय होनेमें आगमप्रमाणका अधिकार नहीं है। सो ही कहा है कि:—

*** प्रत्यक्षानुमानागमैः परीक्षणमत्र विचारः ।**

(श्लोकवार्तिक पृष्ठ-८ पंक्ति-१३

अर्थ:—प्रत्यक्ष-अनुमानके आश्रयसहित आगममें लिखी हुई प्रयोजनभूत वस्तुकी परीक्षा करनी उसका नाम विचार है। जो सर्वज्ञका स्वरूप है वह तो मूल प्रयोजनभूत वस्तु है, इसलिए केवल आगमके आश्रयमें ही उसकी प्रतीति किये विना परीक्षा करनेसे

* अर्थ:—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे परीक्षा करना उसका नाम यहाँ विचार कहा है।

+'नय द्वारा ही केवल प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।' अतः यदि सर्वज्ञदेवका निश्चय करना है तो पहले उनके नाम-लक्षणादि आगमसे सुनकर फिर अनुमानसे निश्चय करना योग्य है। वह किसप्रकार करे सो कहते हैं:—प्रथम तो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमीति उनका स्वरूप भलीभाँति जानकर तुमको सर्वज्ञका निर्णय करना इष्ट है।

अब तुम प्रमाता बनो। वहाँ तेरह प्रमाणोंमें पाँच इन्द्रियज्ञान तथा पाँच परोक्ष प्रमाण ये दस प्रमाण तो तुम्हारे पाये जाते हैं, लौकिक कार्योंमें तो तुम उनको यथास्थान लगाकर कार्यसिद्धि कर लेते हो, परन्तु अब यदि तुमको सर्वज्ञका निश्चय करना है तो अनुमान प्रमाणरूप अपने ज्ञानको बनाओ तथा तुम प्रमाता बनकर अपने प्रमाणरूप ज्ञानको सर्वज्ञके निर्णयके प्रति लगाओ कि जिससे सच्चा निर्णय हो। यहाँ अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञका निश्चय होता है, इसलिए अनुमान प्रमाणका स्वरूप समझकर अपने ज्ञानको प्रमाणरूप बनाओ। वहाँ प्रथम साध्य-साधनकी व्याप्तिका ज्ञान जो तर्क प्रमाण वह पहले होना चाहिए, क्योंकि उसके होते ही सच्चा अनुमान होता है। वहाँ पहले साधनके स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वहाँ साधनका मूलस्वरूप तो इसप्रकार है :—

जिसके द्वारा साध्य सिद्ध हो और अन्य प्रकार सिद्ध न हो उसका नाम साधन है। उसके अनेक भेद हैं:—१. पररूप, २. संयोगरूप, ३. लक्षणरूप, ४. पूर्वचररूप, ५. उत्तरचररूप, ६. सहचररूप, ७. कर्त्तारूप, ८. कर्मरूप, ९. कारणरूप, १०. संप्रदानरूप, ११. अपादानरूप, १२. अधिकरणरूप, १३. सम्बन्धरूप, १४. क्रियारूप, १५. स्वामीरूप, १६. स्वरूपरूप, १७. द्रव्यरूप, १८. क्षेत्ररूप, १९. कालरूप, २०. भावरूप, इत्यादि साधनके अनेक भेद हैं। सो इतनेका तो कुछ स्वरूप लिखते हैं :—

+ (खरडा प्रतिमें) 'नियमकरि प्रयोजन सिद्ध न होय'।

(१) भिन्नपरद्रव्यसे परद्रव्यका निश्चय करना, जैसे मन्दिरके चित्र देखकर, यह मन्दिर बनवानेवाला बहुत धनी और रुचिवान था ऐसा निश्चय करना, यहाँ मन्दिरसे उस बनवानेवाले पुरुषका निश्च हुआ, वह पररूप हेतु है।

(२) एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध जो परद्रव्य उससे निश्च करना वह संयोगरूप हेतु है, जैसे किसी मूर्तिकी प्रसन्न मुद्रा देखक अन्तरंग प्रसन्नताका ज्ञान होना वह संयोगरूप हेतु है।

(३) लक्षणको देखकर वस्तुका निश्चय करना जैसे चेतन लक्षणको देख चैतन्यजीवका निश्चय करना वह लक्षण हेतु है।

(४) साध्यसे प्रथम होनेरूप कर्मको देखकर साध्यका निश्च करना वह पूर्वचर हेतु है; जैसे कृत्तिका का उदय देखकर रोहिणीक निश्चय करना, वह पूर्वचर हेतु है।

(५) साध्यके पश्चात् होनेवाले हेतुको देखकर साध्यका निश्चय करना, जैसे रोहिणीका उदय देखकर कृत्तिका नक्षत्र हो जानेका निश्चय करना, वह उत्तरचर हेतु है।

(६) जो साध्यके साथ ही साथ हो उसको देखकर साध्यका निश्चय करना जैसे प्रकाशको देखकर सूर्योदयका निश्चय करना सो सहचर हेतु है।

(७) कर्त्ताके साधनसे साध्यभूत कार्यका निश्चय करना; जैसे बिना स्वाद लिये ही लड्डूके अच्छेपनका हलवाईके नामसे निश्चय करना कि यह लड्डू अमुक हलवाईके बनाये हुए हैं इसलिए अच्छे हैं, सो कर्त्तारूप हेतु है।

(८) कार्यरूप हेतुको साधन द्वारा कर्त्तारूप साध्यका निश्चय करना, जैसे अच्छे कपड़ेके थानको देखकर उसके बुननेवाले कारीगरका निश्चय करना सो कार्यरूप हेतु है।

(९) करणको साधनकर उसके द्वारा होने वाले कार्यरूप साध्य का निश्चय करना, जैसे किसीके बुरे भावोंको देखकर यह कहना कि यह पुरुष नरकमें जायेगा, सो करणरूप हेतु है।

(१०) सम्प्रदानको साधन करके निश्चय करना वह संप्रदानरूप हेतु है, जैसे रसोई बनानेवाले रसोइयासे पूछना कि यह रसोई किसके लिए किस क्रियासे बनाते हो? तब उसने किसी क्रियाको बता दिया उससे ऐसा निश्चय हुआ कि-यह रसोई स्वच्छतासे बनी है, उसका नाम सम्प्रदान हेतु है।

(११) अपादानको साधनकर साध्यका निश्चय करना, जैसे कोई लड़ाई करके घर जाता था, उसको देखकर निश्चय करना कि यह घर पर जाकर लड़ेगा, उसको अपादानरूप हेतु कहते हैं।

(१२) आधारको देखकर आधेयका निश्चय करना, जैसे कोई बढ़िया खेतका नाम सुनकर उसमें पैदा होने वाले, चावलोंके अच्छेपनका निश्चय करना इत्यादि, वह आधाररूप साधन है।

(१३) सम्बन्धको साधन करके निश्चय करना जैसे बुरे संबंधके द्वारा ऐसा निश्चय करना कि—यह वस्तु खाने योग्य नहीं है, या इस पुरुषका बुरे मनुष्योंसे सम्बन्ध है, इसलिए यह व्यसनी है, इत्यादि सम्बन्धरूप साधन है।

(१४) कार्यकी प्रारम्भरूप क्रिया द्वारा कार्यकी भलाई या बुराई का निश्चय करना जैसे वीणादिकी बाजनेरूप क्रियासे गानेरूप कार्यका निश्चय करना, वह क्रियारूप साधन है।

(१५) स्वामीरूप साधन द्वारा वस्तुका निश्चय करना, जैसे मुनियोंको यद्यपि भोजनका शुद्ध-अशुद्धपनेका निश्चय नहीं आया तो भी जैन श्रावकका घर पहिचानकर श्रावकके घर आहार करते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि भोजनकी शुद्धताका निर्णय किये बिना

मुनि आहार किसप्रकार करेंगे ? जिनदेवका निश्चय है तथा जिनदेव ही जिनके स्वामी हैं उनके यहां आहार अशुद्ध नहीं होगा। इसप्रकार स्वामीरूप साधन है।

(१६) स्वरूपसाधन द्वारा वस्तुका निर्णय करना जैसे किसीके पुत्रको सुन्दर कपड़ा बहुमूल्य आभूषण पहने हुए देखकर व उदारता-पूर्वक धन व्यय करते हुए देखकर यह निश्चय करना कि ये भाग्य-वान पिताका पुत्र है, उसको स्वरूपसाधन हेतु कहते हैं।

(१७) द्रव्यरूप साधन द्वारा वस्तुका निर्णय करना जैसे ... लड्डू सर्वथा अच्छे नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें खराब शक्कर डाल गई है, वह द्रव्यरूप साधन है।

(१८) क्षेत्र द्वारा वस्तुका निश्चय करना जैसे अमुक बढ़िया क्षेत्रमें यह धान पैदा हुआ है इसलिये यह धान बढ़िया है, इसप्रकार क्षेत्ररूप साधन है।

(१९) काल द्वारा वस्तुका निर्णय करना वह कालरूप साधन है।

(२०) भाव द्वारा वस्तुका निश्चय करना वह भावरूप साधन है।

इसप्रकार साधनोंका स्वरूप कहा, वह तो असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक तथा अकिंचित्कररूप चार दूषणोंसे रहित–जिससे साध्य निश्चयसे अवश्य सिद्ध हो ही और जिसके विना सिद्ध नहीं हो वह साधन है; उससे विपरीत साधन पतितरूप है। ऐसे साधन व दृष्टान्त ग्रहण करना वह तर्क प्रमाण है।

तथा साध्य तो गम्य न हो परन्तु साधन द्वारा गम्य हो उस साधनके साध्यका निश्चय करना वह अनुमान प्रमाण है। उस अनुम... प्रमाणके स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमानरूप दो भेद हैं। वहाँ प्रमा... अनुमानरूप परिणमित होता हुआ ज्ञानका नाम स्वार्थानुमान है, उ... तीन अङ्ग हैं:—धर्मी, साध्य तथा साधन। उनका ज्ञान होने

स्वार्थानुमान होता है। वहाँ जिस वस्तुमें साध्यपना हो उसको धर्मी कहते हैं और वह प्रसिद्ध ही है। तथा शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध, ऐसे तीन लक्षणोंको धारण किया हो वह साध्य है। जो प्रमाणताके निर्णय होने योग्य हो वह शक्य है, जो प्रमाताको इष्ट हो और प्रमाताका अंतरंग अभिप्राय जानकर, ठीक (निर्णय) करने योग्य हो वह अभिप्रेत है तथा जो प्रगट न हो वह अप्रसिद्ध है। इसप्रकार तीन लक्षण जिसमें हो वह साध्य है।

जिससे साध्यका ज्ञान हो तथा अन्य प्रकारसे न हो वह साधन है। वहाँ अपने ज्ञानमें साधनके बलसे धर्मीमें साध्यका निश्चय करना वह स्वार्थानुमान है तथा अन्यको अपने वचन द्वारा अनुमानका स्वरूप कहना व अनुमान द्वारा सिद्ध करने योग्य वाक्य अन्यको कहना वह परार्थानुमान है।

वहाँ पंडितोंके सम्बन्धमें दो अंग अंगीकार करने योग्य हैं, प्रतिज्ञा और हेतु। वहाँ साध्यसहित धर्मीका वचन है वह प्रतिज्ञा है। जैसे-यह पर्वत अग्नि संयुक्त है। तथा जिनसे धर्मीमें साध्यका दृढ़-निश्चय हो जाये ऐसा जो साधनका वचन वह हेतु है; जैसे इस पर्वतमें धूम्र पाया जाता है इसलिये यह पर्वत अग्निमान है। तथा अल्पज्ञानवालेको दो अंग तो यह तथा उदाहरण, उपनय और निगमन-मेंसे एक, दो व तीन शिष्यके अनुरोधसे कहना। वहाँ जिस साध्यको स्वयं साधन देकर सच्चा निर्णय चाहे उसके दृष्टान्तका वचन कहना अन्वय व व्यतिरेकरूप दो उदाहरण हैं। जैसे पर्वतको अग्निमान सिद्ध करनेके लिए अग्नि सहित धुएँवाले रसोईघरका दृष्टांत वचन कहना। तथा दृष्टांतकी अपेक्षा पूर्वक साध्यका वचन कहना वह उपनय है। जैसे-यह रसोईघर धुएँवाला है, वैसे पर्वत भी धूम्रवान है। तथा हेतु-के आश्रयसे साध्यका निश्चयवचन कहना वह निगमन है। जैसे यह पर्वत धूम्रवान है इसलिए अग्निमान ही है। ऐसे हेतु पूर्वक निश्चय-वचन कहना वह निगमन है। इसप्रकार तुमको अनुमानका स्वरूप व

अर्थः—जो सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ हैं वे किसीको प्रत्यक्ष होते हैं। उसका दृष्टान्त जैसे-अग्नि अनुमेय है और उसको कोई प्रत्यक्ष देख ही लेता है। इसप्रकार दूसरा अनुमान सिद्ध किया है।

तथा जो ज्ञेयपदार्थ हैं तो उनका ज्ञाता भी कोई है ही, क्योंकि ज्ञेय जो मेरु आदि व जीव आदि शास्त्रमें सुनकर बिना देखे ही किसीके कहे हुए वचनोंके आश्रयसे श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं। जैसे सूक्ष्म आदि पदार्थ अपनेको प्रत्यक्ष जाननेमें नहीं आये तो भी किसीके द्वारा कहे हुए शास्त्रोंसे निर्बाध श्रुतज्ञानसे जाननेमें आते हैं, इसलिए अनुमानसे यह निश्चय सिद्ध किया कि जो यह जीव आदि वस्तुएँ हैं तो उनका सम्पूर्ण स्पष्ट ज्ञाता भी कोई है, इसप्रकार तीसरी जातिका अनुमान सिद्ध किया।

तथा सूक्ष्मादि पदार्थोंका जो उपदेश करता है वह सूक्ष्मआदि पदार्थोंका कोई साक्षात् जाननेवाला है उसके आश्रयसे ही प्रवर्त्ता है क्योंकि सुनिश्चितासम्भवद्बाधक प्रमाणोंके लिए उपदेश विद्यमान है, वहाँ हम यह अनुमान सिद्ध करते हैं कि जो यह उपदेश है तो उ मूल वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग ही हैं। इसप्रकार पर स्वरूप कार्यानुम सर्वज्ञकी सत्ता सिद्धकी। श्री श्लोकवार्तिकमें कहा है कि :—

* सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः।
परोपदेशलिंगाक्षानपेक्षावितथत्वतः ॥ ९ ॥

(प्रथम अ. पृष्ठ-

जैसे कोई पुरुष भीतर बैठकर वीणा बजाता था, वहां कि

हो ऐसे) तथा दूर पदार्थ भी अनुमानके विषय होनेसे किसीको प्र होते हैं, इसप्रकार सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

* अर्थः—सूक्ष्मादि पदार्थोंका उपदेश उन पदार्थोंको साक्षात् (प्रत्यक्ष जाननेवालेके द्वारा ही हो सकता है क्योंकि वह (सूक्ष्मादि पदार्थोंका ज्ञान परोपदेश, लिंग और इन्द्रियोंसे निरपेक्ष है तथा सत्य है।

दूसरे पुरुषने तो उसको साक्षात् देखा नहीं, परंतु वीनका बाजा यथावत् सुनकर उसने ऐसा निश्चय किया कि–यहाँ कोई चतुर बाजा बजानेवाला है; उसीप्रकार यहाँ भी सर्वज्ञको साक्षात् प्रत्यक्ष तो नहीं देखा, परन्तु इस सच्चे उपदेशरूप साधनसे सर्वज्ञकी समानरूप सत्ता सिद्ध की। तथा ऐसे सर्वज्ञका निमित्त पाया जाता है, वह निर्णय स्थान निश्चयमें लिखेंगे। यहाँ कोई प्रश्न करता कि–जो अनादिनिधनश्रुत है वही है, उसे जो पढ़े–सुने उसको ज्ञान हो जाता है, इससे सर्वज्ञ वक्ता कैसे सिद्ध किया? उसका उत्तर :—

यद्यपि पदार्थभी अनादिनिधन है तथा वस्तुओंमें नामादिक कहना भी अनादिनिधन है, सो कर्त्ता तो इनका कोई सर्वथा है नहीं, परंतु प्रथम तो न्यायशास्त्रोंमें वचन सामान्यका भी पौरुषेयपना सिद्ध किया है और अपौरुषेय आम्नायका निषेध किया है। क्योंकि यह उपदेशरूप वाक्य किसी पुरुषके आश्रय बिना नहीं प्रवर्तता। शब्द पुद्‌गलकी पर्याय है, सो जीवके आश्रय बिना ही प्रवर्तती है। श्री श्लोकवार्तिकमें भी कहा है कि :—

*** नैकांताकृत्रिमाम्नायमूलत्वेस्य प्रमाणता।**
तद् व्याख्यातुरसर्वज्ञे रागित्वे विप्रलंभनात् ॥४॥

(प्रथम अ. पृष्ठ–७)

यद्यपि तुम सर्वथा अकृत्रिम आम्नाय कहते हो, परन्तु उसकी प्रमाणता नहीं है। इसलिए इस आम्नायका मूल व्याख्याता मानना योग्य है। तथा जो अज्ञानी–राग–द्वेषीको व्याख्याता माना जाय तो उसके कहनेमें प्रमाणता किसप्रकार आयेगी? क्योंकि दोषवान वक्ताको तो ढोंगी कहते हैं, इसलिए पूर्ण ज्ञानी तथा राग–द्वेषरहित ही मूल व्याख्याता होने पर आम्नायकी सच्ची प्रवृत्ति होगी, वही बतलाते हैं।

---

* अर्थः—सर्वथा अकृत्रिम परम्परासे आनेके कारण भी वेदमें प्रामाणिकता आ नहीं सकती; क्योंकि उसके व्याख्याता असर्वज्ञ और राग–द्वेषी होनेसे वचनका संभव आता है।

यदि तुम सर्वथा अकृत्रिम आम्नाय पुरुषके आश्रय बिना ही
मानोगे तो आम्नाय तो अकृत्रिम सम्भव है, क्योंकि ऐसा वचन है कि:—

+'सिद्धो वर्णः समाम्नायः'

अर्थात् अक्षरोंकी सच्ची आम्नाय है वह स्वयंसिद्ध है, प
किसीकी की हुई नहीं है, जो अक्षर वा जीवादिक वस्तुके नाम प
द्रव्यसे सब स्वयंसिद्ध है, इसलिए आम्नाय तो अकृत्रिम ही है तो भं
पुरुष किसी पुरुषके आश्रय बिना आम्नाय वचन ही अपने स्वार्थको
प्रकाशनेमें समर्थ नहीं है। जिस वचनमें ही ऐसी शक्ति हो कि पढ़े—
सुने उनको उसरूप सच्चा ज्ञान करा देवें तो अनेक मतोंमें भी अन्यथा
व एक मतमें भी प्रतिपक्षीका सद्भाव क्यों होने दे? इसलिए आम्नाय-
के प्रवर्त्तनको सच्चा रखनेवाला कोई वचनका व्याख्याता अवश्य मानना
योग्य है'।

वहाँ यदि व्याख्याता सर्वज्ञ वीतराग मानोगे तो आम्नायरूप
वचन है सो उनके आधीन प्रवर्त्ती है; परन्तु तुम अकृत्रिम आम्नायकी
ऐसी एकान्त हठ पकड़कर सर्वज्ञकी नास्ति किसलिये कहते हो? तथा
यदि आम्नायरूप वचनका व्याख्याता मन्द ज्ञानी–रागीद्वेषी मानोगे
तो उसके वचनमें प्रमाणता नहीं आयेगी ऐसे वक्ताके कहे हुए सूत्रमें
प्रमाणता कैसी आयेगी? क्योंकि अज्ञान द्वारा तो वस्तुका स्वरूप
यथार्थ भासित नहीं होता, तब या तो इच्छानुसार अपनेको जैसा
वस्तुका स्वरूप अन्यथा भासित हो वैसा कहकर पद्धति रखे, अथवा
अपनेसे कहा न जाये व कहनेमें बाधा लगती दिखे तो वस्तुका
स्वरूप अवक्तव्य कहकर पद्धति रखे। इसप्रकार तो अज्ञानी वक्ताके
आश्रयसे दोष आता है, और यदि कदाचित् किसीको किंचित् ज्ञान हो
तो भी राग–द्वेषके वशसे व अपना विषय–कषाय, काम, क्रोध, मान,

+ अर्थ:—वर्ण उच्चारका संप्रदाय, (चौंसठ मूलाक्षर) स्वयंसिद्ध है अनादि—
निधन है।

माया, लोभ तथा इर्ष्यादिक प्रयोजन साधनेके लिए सच्चेको झूठा कहे उसका प्रमाण नहीं। इसप्रकार राग-द्वेपके आश्रयसे दोप आता है, अब जिनको दोनोंमें सामान्य-विशेपता हो उनको भी सच्चा वक्तापना आना दुर्लभ है तो जिनमें अज्ञान-रागादि दोष प्रवल पाये जाते हों उनको सच्चा वक्तापना किसप्रकार आयेगा ? इसलिये अज्ञानी तथा रागीद्वेपी वक्ता सर्वथा नहीं होता।

तथा तुम जो हठग्राहीपनेसे व मतपक्षसे दोपवान व्याख्याताके भी प्रमाणिकपना मानोगे तो तुम्हारे मतमें अदुष्टकारणजन्यपनेको प्रमाण स्वरूप क्यों कहा है ? तुम्हारेमें ऐसा वाक्य ही है कि:—

'दुष्टकारणजन्यत्वं प्रमाणस्याप्रमाणत्वम्'

यदि कोई द्वेषी ठहरे तव उसकी कही हुई आम्नाय प्रमाण-रूप कैसे हो ? क्योंकि उसकी कही हुई आम्नायको तो दुष्टकारण-जन्यपना आया। जैसे इसकालमें कपटियोंके शास्त्र दुष्ट-द्वेपी वक्ताजन्य हैं, उसीप्रकार आम्नायके भी शास्त्र हुए। इसप्रकार अकृत्रिम आम्नाय माननेमें व अज्ञानी रागीद्वेपी वक्ताको माननेमें अनेक वाधायें आती हैं, उसका विशेप निर्णय महाभाष्य अष्टसहस्री तथा श्लोकवार्तिक आदि न्यायके ग्रन्थोंमें हेतु-युक्तिपूर्वक किया है, उसको जानकर अपने कल्पित वचन प्रमाणभूत नहीं हैं, ऐसा मानना योग्य है।

तथा सच्चे वस्तुस्वरूपका व जीवके कल्याणमार्गका प्रतिपादन करनेवाला वचन है वह श्री सर्वज्ञ-वीतराग वक्ताके कहनेसे ही प्रवर्ता है, यह वात सिद्ध हुई। सो ही श्री श्लोकवार्तिकमें कहा है कि:—

= प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात् प्रक्षीणकल्मषे।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥२॥

---

* अर्थः—द्वेषके कारण प्रमाणको भी अप्रमाणपना उत्पन्न होता है।

= अर्थः—समस्त तत्त्वार्थोंके ज्ञाता वीतराग और मुनीन्द्रोंसे स्तुत्य ऐसे

सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥३॥
(प्रथम अ. पृष्ठ-४)

अर्थः—जिसने सर्वपदार्थोंको जाना है, तथा जिसने घातिया-कर्मोंका घात किया है, और मुनिन्द्रों की स्तुति करने योग्य, मोक्षमार्गको दिखलानेवाले ऐसे वक्ताके सिद्ध होते ही कल्याणकारी जुड़ान करनेवाला जो उपयोगस्वरूप आत्मा और उसकी प्रतिपित्सा अर्थात् पूछनेरूप प्रवृत्ति उसके होने पर यह सूत्र प्रवर्ता है । सो जिनमतके शास्त्रोंमें युक्ति-सहित सत्यपना पाया जाता है क्योंकि जिनमतमें सूत्रका लक्षण यह कहा गया है:कि:—

* 'हेतुमत्तथ्यं सूत्रम्'

सो ऐसे सूत्र असर्वज्ञ-द्वेषवान वक्ता होते कैसे प्रवर्ते ? जैसे वृहस्पति आदि नास्तिवादीके सूत्र सच्चे वक्ता विना ही प्रवर्ते हैं वैसे जिनमतके सूत्र नहीं हैं । जिनशास्त्रोंके वचनमें तो सुनिश्चितासंभव-द्वाधकपना है, इसलिये वे तो सत्यताको सिद्ध करते हैं और सत्यता है वह इन वचनोंके सूत्रपनेको प्रगट करती है, तथा सूत्रपना है वह सर्वज्ञ-वीतरागके प्रणेतापनको सिद्ध करता है ।

अब इस कालमें सच्चा वस्तुस्वरूप दर्शानेवाले सच्चे मोक्ष-मार्गके सूत्र तो पाये ही जाते हैं, परन्तु जिनके ज्ञानमें जिनवचनोंके आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परम्परा गुरुका उपदेश तथा स्वानुभव इनके द्वारा प्रमाण, नय निक्षेप और अनुयोगसे निश्चय हुआ

मोक्षमार्गके नेताकी (आप्तकी) सिद्धि होनेपर श्रेयमें जुड़नेकी योग्यतावाले उपयोगात्मक आत्माको मोक्षमार्गकी जिज्ञासा होनेपर तत्त्वार्थसूत्रका प्रथमसूत्र (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः) प्रवर्ता है ।

* अर्थ—युक्तिवाला और यथातथ्य (सच्चा) हो वह सूत्र कहलाता है ।

उन्हीं जीवोंको इन वचनोंका सत्यपना भासित होता है तथा उन्हींके वचन सच्चे सूत्ररूप भासित होते हैं और उन्हींको ऐसे सूत्रोंका कहनेवाला वक्ता सर्वज्ञ-वीतरागदेव ही भासित होता है। इसप्रकार जो भेदविज्ञानी जीव हैं उन्हींको जहाँ केवलीका प्रत्यक्ष दर्शन है वहाँ तो संयोगके कार्यरूप साधन द्वारा सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध हुई है।

तथा इसकालमें केवलज्ञानीका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं परन्तु उनकी तदाकार व अतदाकार स्थापनाके दर्शन हैं, वहाँ पररूपकार्यके साधनसे सत्ताकी सिद्धि होती है। इसप्रकार जो सर्वज्ञकी सर्वथा नास्ति कहते हैं उसको सर्वज्ञकी सत्ता जिसप्रकार सिद्ध हुई है उस प्रकार सत्ता सिद्ध करनेका उपाय दर्शाया है अब जिनको आत्मकल्याण करना है उनको प्रथम ऐसे उपायसे वचनका सत्यपना अपने ज्ञानमें निर्णय करके फिर गम्यमान हुए सत्यरूप साधनके बलसे उत्पन्न हुआ जो अनुमान उससे सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध करके श्रद्धान, ज्ञान, दर्शन, पूजा, भक्ति, स्तोत्र, नमस्कार आदि करने योग्य हैं।

परन्तु जो सत्ताका निश्चय तो नहीं करता और कुलपद्धतिसे पंचायतके आश्रयसे व मिथ्याधर्मबुद्धिसे दर्शन-पूजनादिरूप प्रवर्तता है व मतपक्षके हठग्राहीपनेसे अन्यको नहीं भी मानता, मात्र उन्हींका सेवक बन रहा है, उसको तो नियमसे अपने आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि नहीं होती; इसलिए वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि जिनसे सर्वज्ञकी सत्ताका ही निश्चय नहीं किया गया, उनसे स्वरूपका निश्चयादि तो किसप्रकार होगा?

यहाँ कोई कहता है कि:—सत्ताका निश्चय हमसे न हुआ तो क्या हुआ वे देव तो सच्चे हैं इसलिए पूजनादि करना विफल थोड़े ही जाता है? उसका उत्तर:—यदि तुम्हारी किंचित् मंदकषायरूप परिणति हो जायेगी तो पुण्यबंध तो होता जायेगा, परन्तु जिनमतमें तो देवके दर्शनसे आत्मदर्शनरूप फल होना कहा है वह तो नियमसे सर्वज्ञकी सत्ता जाननेसे ही होगा अन्य प्रकारसे नहीं होगा। यही श्री

सर्वज्ञकी सत्ताका निश्चय नियमसे हुआ होगा वही स्याद्वादी है, इसलिए नरत्व, कायमानपना आदि हेतु देकर स्याद्वादीको सर्वज्ञकी सत्ताका सद्भाव भासनेका निषेध है सो असंभव है। श्री श्लोकवार्तिक- भी कहा है कि:—

* आसन् संति भविष्यंति बोद्धारो विश्वदृश्वनः।
मदन्येपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥२६॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तैनैवेति विनिश्चयः।
इत्ययुक्तमशेषज्ञसाधनोपायसंभवात् ॥ २७ ॥
× यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः।
तथान्येपि नराः संतस्तद्बोद्धारो निरंकुशाः ॥२८॥

(प्रथम अ. पृष्ठ १४-१५)

इत्यादि सर्व जिनमतकी निर्बलता दिखलाई सो यह अवस्था तो जैनाभासी जिनको मतका, आम्नायका, वस्तुओंका स्वरूप व स्व-परके कल्याणका ज्ञान तो नहीं हुआ हो और कुलादिक व पंचायत आदिके आश्रयसे पूजा-तप त्यागादिरूप प्रवर्तते हैं तथा जैन कहलाते उनके ही है। क्योंकि विशेषज्ञान न हो तथापि जो मोक्षमार्गकी प्रयोजनभूत वस्तु है उसका ज्ञान तो निर्णयरूप-हेतुपूर्वक होना चाहिए।

---

* अर्थ।—जिसप्रकार स्वयं अल्पज्ञ होनेपर भी सर्वज्ञवादीके निर्णय है कि 'मेरे अतिरिक्त अन्य भी सर्वज्ञको जाननेवाले भूतकालमें हुए हैं, वर्तमान कालमें हैं और भविष्य काल होंगे,' उसीप्रकार मुझे भी इसीप्रकार 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा त्रिकाल निश्चय हो सकता है—ऐसा (तेरा) कहना अयुक्त क्योंकि सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले प्रमाण विद्यमान हैं।

× अर्थः—जिसप्रकार मैं अनुमानादिसे सर्वज्ञको वास्तविकरूपसे जानता हूँ, उसीप्रकार अन्य मनुष्य भी सर्वज्ञको जानने वाले हों, उसमें कुछ भी आपत्ति नहीं है।

क्योंकि सच्चे जैनी होंगे वे प्रयोजनभूत वस्तुमें अन्य द्वारा वाधा
सर्वथा नहीं आने देंगे, तथा वाधा देखकर अपनेको तलाकपना (छोड़
देनेका भाव) नहीं आता, और जो स्वयं सबका मन रंजायमान करनेके
लिए मंदकषायी-शीतल बनकर ही रहता है और चर्चा करके उसकी
वाधाका खंडन न करे तो वह जैनाभासी मिथ्यादृष्टि ही है। क्योंकि
जो जैन होंगे सो अपने कानोंसे जिनमतकी वाधाके वचन कैसे सह
सकेंगे ? वही श्री श्लोकवार्तिकमें कहा है कि:—

'प्रतीतिविलोपो हि स्याद्वादिभिर्न क्षमं सोढुं' ।

अर्थ:—जो स्याद्वादी हैं उनसे अपनी प्रतीति अर्थात् श्रद्धान
उसका विलोप अर्थात् अन्योक्तिसे सदूषणपना नहीं सहा जाता; क्योंकि
दूषणसहित सदोषश्रद्धान होनेके पश्चात् निर्दोष-दूषणरहित श्रद्धानका
आश्रय नहीं होता ।

इति सर्वज्ञसत्ता स्वरूप सम्पूर्णम् ।

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान ।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान् ॥

आचार्यकल्प पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी कृत

गोम्मटसार–पीठिका

(दोहा)

वंदौं ज्ञानानंदकर, नेमिचन्द गुणकंद ।
माधव–वंदित विमलपद, पुण्य पयोदधि नंद ॥१॥
दोष दहन गुन गहन घन, अरि करि हरि अरहंत ।
स्वानुभूति रमनीरमन, जग नायक जयवंत ॥२॥
सिद्ध शुद्ध साधित सहज, स्वरस सुधारस धार ।
समयसार शिव सर्वगत, नमत होहु सुखकार ॥३॥
जैसी वानी विविधविधि, वरतन विश्व प्रमान ।
स्यातपद मुद्रित अहित हर, करहु सकल कल्यान ॥४॥
मैं नमो नगन जैनजन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैन मान विन दान धन, एन हीन तन छीन ॥५॥

(यह चित्रालंकार युक्त है)

इह विधि मंगल करन तैं सब विधि मंगल होत ।
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यों भानु उद्योत ॥६॥

अब मंगलाचरणके द्वारा श्रीमद् गोम्मटसार जिसका अपर नाम पंचसंग्रह ग्रन्थ उसकी देशभाषामय टीका करनेका उद्यम करता हूं। यह ग्रन्थ–समुद्र तो ऐसा है जिसमें सातिशय बुद्धि-बल सहित जीवोंका भी प्रविष्ट होना दुर्लभ है । और मैं मंदबुद्धि (इस ग्रन्थका) अर्थ प्रकाशनेरूप इसकी टीका करनेका विचार कर रहा हूं।

यह विचार तो ऐसा हुआ जैसे कोई अपने मुखसे जिनेन्द्रदेवका सर्वगुण वर्णन करना चाहे तो वह कैसे करे ?

प्रश्न:—नहीं बनता; तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उत्तर:—जैसे जिनेन्द्रदेवके सर्वगुणका वर्णन करनेकी सामर्थ्य हीं है फिर भी भक्तपुरुष भक्तिके वश अपनी बुद्धिके अनुसार गुण-र्णन करता है, उसीप्रकार इस ग्रन्थके सम्पूर्ण अर्थका प्रकाशन करनेकी सामर्थ्य न होने पर भी अनुरागके वश मैं अपनी बुद्धि-अनुसार अर्थका प्रकाशन करूंगा ।

प्रश्न:—यदि अनुराग है तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रन्थाभ्यास करो, किन्तु मंदबुद्धिवालोंको टीका करनेका अधिकारी होना उचित नहीं है ?

उत्तर:—जैसे किसी पाठशालामें बहुत बालक पढ़ते हैं उनमें ई बालक विशेष ज्ञान रहित है फिर भी अन्य बालकोंसे अधिक ढ़ा है तो वह अपनेसे अल्प पढ़नेवाले बालकोंको अपने समान ज्ञान होनेके लिये कुछ लिख देने आदिके कार्यका अधिकारी होता है । उसीप्रकार मुझे विशेषज्ञान नहीं है, फिर भी कालदोषसे मुझसे भी मंदबुद्धिवाले हैं और होंगे ही । उन्हींके लिये मुझ समान इस ग्रन्थका ज्ञान होनेके लिये टीका करनेका अधिकारी हुआ हूँ ।

प्रश्न:—यह कार्य करना है ऐसा तो आपने विचार किया । किन्तु छोटा मनुष्य बड़ा कार्य करनेका विचार करे तो वहाँ पर उस कार्यमें गलती होती ही है, और वहाँ वह हास्यका स्थान बन जाता है । उसीप्रकार आप भी मंदबुद्धिवाले हैं अतः इस ग्रन्थकी टीका करनेका विचार कर रहे हो तो गलती होगी ही और वहाँ पर हास्यका स्थान बन जाओगे ।

उत्तर:—यह बात तो सत्य है कि मैं मंदबुद्धि होनेपर भी मैंने महान ग्रन्थकी टीका करनेका विचार करता हूँ वहाँ भूल तो हो

सकती है किन्तु सज्जन हास्य नहीं करेंगे। जैसे दूसरोंसे अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करे तब बड़े जन ऐसा विचार करते हैं कि 'बालक है भूल करे ही करे, किन्तु अन्य बालकोंसे भला है, इस प्रकार विचार कर हास्य नहीं करेंगे, उसी प्रकार मैं यहाँ कहीं भूल जाऊं वहाँ सज्जन पुरुष ऐसे विचार करेंगे कि वह मंदबुद्धि था सो भूले ही भूले किन्तु कितने ही अतिमंद बुद्धिवालोंसे तो भला है, ऐसे विचार कर हास्य नहीं करेंगे।

प्रश्न—सज्जन तो हास्य नहीं करेंगे, किन्तु दुर्जन तो करेंगे ही?

उत्तर—दुष्ट तो ऐसे ही हैं जिनके हृदयमें दूसरोंके निर्दोष-भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं किन्तु उनके भयसे, जिसमें अपना हित हो-ऐसे कार्यको कौन न करेगा ?

प्रश्न—पूर्व ग्रन्थ तो थे ही उन्हींका अभ्यास करने-करावनेसे ही हित होता है, मंदबुद्धिसे ग्रन्थकी टीका करनेकी महंतता क्यों प्रगट करते हो ?

उत्तर—ग्रन्थका अभ्यास करनेसे-ग्रन्थके टीका की रचना करनेमें उपयोग विशेष लग जाता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभासमें आता है अन्य जीवोंको ग्रन्थाभ्यास करानेका संयोग होना दुर्लभ और संयोग होनेपर भी किसी जीवको अभ्यास होता है। और ग्रन्थकी टीका बननेसे तो परम्परागत अनेक जीवोंको अर्थका ज्ञान होगा। इसलिये स्व-पर अन्य जीवोंका विशेष हित होनेके लिये टीका करनेमें आती है, महंतताका तो कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

प्रश्न—यह सत्य है कि-इस कार्यमें विशेष हित होता है, किन्तु बुद्धिकी मंदतासे कहीं भूलसे अन्यथा अर्थ लिखा जाय तो वहाँ महापापकी उत्पत्ति होनेसे अहित भी होगा ?

उत्तर—यथार्थ सर्व पदार्थोंके ज्ञाता तो केवली भगवान् हैं दूसरोंको ज्ञानावरणका क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान है उसको कोई अर्थ

ाया भी प्रतिभासमें आजाय किन्तु जिनदेवका ऐसा उपदेश है।
व, कुगुरु, कुशास्त्रोंके वचनकी प्रतीतिसे वा हठसे, वा क्रोध-मान माया
भसे वा, हास्य, भयादिकसे यदि अन्यथा श्रद्धा करे वा उपदेश दे तो-
ः महापापी है और विशेषज्ञानवान गुरुके निमित्त विना वा अपने
शेष क्षयोपशम विना कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और
ह ऐसा जाने कि जिनदेवका उपदेश ऐसे ही है ऐसा जानकर कोई
क्ष्म अर्थकी अन्यथा श्रद्धा करे वा उपदेश दे तो उसको महत् पाप
हीं होता, वही इस ग्रन्थमें भी आचार्यने कहा है—

"सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥ जीवकांड।

प्रश्न:—आपने अपने विशेष ज्ञानसे ग्रन्थका यथार्थ सर्व अर्थका निर्णय करके टीका करनेका प्रारम्भ क्यों न किया?

उत्तर:—कालदोषसे केवली-श्रुत केवलीका तो यहाँ अभाव ही हुआ; विशेष ज्ञानी भी विरले मिले। जो कोई है वह तो दूर क्षेत्रमें है, उनका संयोग दुर्लभ है और आयु, बुद्धि, वल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गये हैं। इसलिये जितना हो सका वह अर्थका निर्णय किया, अवशेष जैसे हैं तैसे प्रमाण हैं।

प्रश्न:—तुमने कहा वह सत्य है, किन्तु इस ग्रन्थमें जो भूल होगी उनके शुद्ध होनेका कुछ उपाय भी है?

उत्तर:—ज्ञानवान् पुरुषोंका प्रत्यक्ष संयोग नहीं है इससे उनको परोक्ष ही ऐसी विनंती करता हूं कि—मैं मन्दबुद्धि हूं, विशेष ज्ञान रहित हूं, अविवेकी हूं, शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रन्थोंका विशेष अभ्यास मुझे नहीं है, इसलिये मैं शक्ति हीन हूं, फिर भी धर्मानुरागके वश टीका करनेका विचार किया है, उसमें जहां जहां भूल हो, अन्यथा अर्थ हो जाय वहां वहां मेरे ऊपर क्षमा करके उन अन्यथा अर्थको दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना, इसप्रकार विनति करके जो भूल होगी उसे शुद्ध होनेका उपाय किया है।

प्रश्नः—आपने टीका करनेका विचार किया वह तो अच्छा किया है किन्तु ऐसे महान् ग्रन्थकी टीका संस्कृत ही चाहिये, भाषा तो उसकी गंभीरता भासित नहीं होगी ?

उत्तरः—इस ग्रन्थकी जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका तो पूर्व है ही। किन्तु वहाँ संस्कृत गणित आम्नाय आदिके ज्ञान रहित जो मन्दबुद्धि है उसका प्रवेश नहीं होता। यहाँ काल दोषसे बुद्धि आदिके तुच्छ होनेसे संस्कृतादिके ज्ञान रहित ऐसे जीव बहुत हैं उन्हींको इस ग्रन्थके अर्थका ज्ञान होनेके लिये भाषा टीका करता हूँ। जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानवान हैं वह मूल ग्रन्थ वा टीका अर्थ धारण करें। जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञान रहित हैं वे इस भाषा टीकासे अर्थ ग्रहण करें। और जो जीव संस्कृतादि ज्ञान सहित हैं परन्तु गणित आम्नायादिकके ज्ञानके अभावसे मूल ग्रन्थका वा संस्कृत टीकामें प्रवेश नहीं पा सकते हैं वे इस भाषा टीकासे अर्थको धारण करके मूल ग्रन्थ वा संस्कृत टीकामें प्रवेश करें। और भाषा टीकासे मूल ग्रन्थ वा संस्कृत टीकामें अधिक अर्थ हो सके उसको जाननेका अन्य उपाय बनें उसे करें।

प्रश्नः—संस्कृत ज्ञानवालोंको भाषा अभ्यासमें अधिकार नहीं है ?

उत्तरः—संस्कृत ज्ञानवालोंको भाषा बांचनेसे तो दोष आते नहीं हैं, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो वैसे ही करना। पूर्वमें अर्द्धमागधी आदि भाषामय महाग्रन्थ थे जब बुद्धिकी मन्दता जीवोंके तब संस्कृतादि भाषामय ग्रन्थ बने। अब विशेष बुद्धिकी मन्द जीवोंको हुई उससे देशभाषामय ग्रन्थ करनेका विचार हुआ संस्कृतादि अर्थ भी अब भाषा द्वारा जीवोंको समझाते हैं। यहाँ भाषा द्वारा ही अर्थ लिखनेमें आया तो कुछ दोष नहीं है। इसप्रकार विचार कर श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंच संग्रह ग्रन्थकी जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक टीकाके अनुसार 'सम्यग्ज्ञान चंद्रिका' नामक

यह देशभाषामयी टीका करनेका निश्चय किया है। श्री अरहन्तदेव
वा जिनवाणी वा निर्ग्रन्थ गुरुओंके प्रसादसे वा मूलग्रन्थकर्ता
श्री नेमिचंद आदि आचार्यके प्रसादसे यह कार्य सिद्ध हो।

अब इस शास्त्रके अभ्यासमें जीवोंको सन्मुख किया जाता है।
हे भव्य जीव, तुम अपने हितकी वांछा करते हो तो तुमको जिस-
प्रकार हित बने वैसे ही इस शास्त्रका अभ्यास करना। कारण कि
आत्माका हित मोक्ष है, मोक्षके बिना अन्य जो है वह पर संयोग-
जनित है, विनाशीक है, दुःखमय है, और मोक्ष है वही निज स्वभाव
है, अविनाशी है, अनन्त सुखमय है। इसलिये मोक्षपदकी प्राप्तिका
उपाय तुमको करना चाहिये। मोक्षका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,
सम्यक्चारित्र है। इनकी प्राप्ति जीवादिकके स्वरूप जाननेसे ही होती
है। उसे कहता हूँ।

जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है उसे बिना जाने
श्रद्धानका होना आकाशके फूल समान है। प्रथम जाने तब फिर वैसें
ही प्रतीति करनेसे श्रद्धानको प्राप्त होता है। इसलिये जीवादिकका
जानना, श्रद्धान होनेसे पूर्व ही होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्-
दर्शनका कारणरूप जानना। श्रद्धान होनेपर जो जीवादिकका जानना
होता है उसीका नाम सम्यग्ज्ञान है। तथा श्रद्धानपूर्वक जीवादिको जानते
ही स्वयमेव उदासीन होकर हेयका त्याग, उपादेयका ग्रहण करता है
तब सम्यक्चारित्र होता है। अज्ञानपूर्वक क्रियाकांडसे सम्यक्चारित्र
नहीं होता। इसप्रकार जीवादिकको जाननेसे ही सम्यग्दर्शनादि मोक्षके
उपायोंकी प्राप्ति निश्चय करनी ही चाहिये। इस शास्त्रके अभ्याससे
जीवादिकका जानना यथार्थ होता है। जो संसार है वही जीव और
कर्मका सम्बन्धरूप है। तथा विशेष जाननेसे इनके सम्बन्धका अभाव
होता है वही मोक्ष है। इसलिये इस शास्त्रमें जीव और कर्मका ही
विशेष निरूपण है। अथवा जीवादिकका, षट्द्रव्य, सात तत्त्वादिकका भी

उसमें यथार्थ निरूपण है अतः इस शास्त्रका अभ्यास अवश्य करना।

अब यहाँ अनेक जीव इस शास्त्रके अभ्यासमें अरुचि होनेका कारण विपरीत विचार प्रगट करते हैं। अनेक जीव प्रथमानुयोग वा चरणानुयोग वा द्रव्यानुयोगका केवल पक्ष करके इस करणानुयोगरूप शास्त्रमें अभ्यासका निषेध करते हैं। उनमेंसे प्रथमानुयोगका पक्षपाती कहता है कि—वर्तमानमें जीवोंकी बुद्धि मंद बहुत है उन्हींको ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्रमें कुछ भी समझ होती नहीं। इससे तीर्थंकरादिककी कथाका उपदेश दिया जाय तो ठीक समझ लेगा और समझकर पापसे डरे, धर्मानुरागरूप होगा इसलिये प्रथमानुयोगका उपदेश कार्यकारी है— उन्हें उत्तर दिया जाता है—

अब भी सब जीव तो एकसे नहीं हुए हैं, हीनाधिक बुद्धि दिख रही है अतः जैसे जीव हो वैसे उपदेश देना। अथवा मंदबुद्धि जीव भी सिखानेसे अभ्यासमें बुद्धिमान होता दिख रहा है। इसलिये जो बुद्धिमान हैं उन्हींको तो वह ग्रन्थ कार्यकारी ही है, और जो मन्द-बुद्धि हैं वे विशेष बुद्धि द्वारा सामान्य विशेषरूप गुणस्थानादिकका स्वरूप सीखकर इस शास्त्रके अभ्यासमें प्रवर्तित करें।

यहाँ मन्दबुद्धिमान कहता है कि इस गोम्मटसार शास्त्रमें तो गणित समस्या अनेक अपूर्व कथनसे बहुत कठिनता है, ऐसा सुनते आये हैं। हम उसमें किसप्रकार प्रवेश कर सकते हैं?

समाधान—भय न करो। इस भाषा टीकामें गणित आदिका अर्थ सुगमरूप बनाकर कहा है, अतः प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा है। इस शास्त्रमें कहीं तो सामान्य कथन है कहीं विशेष है; कहीं सुगम है, कहीं कठिन है वहाँ जो सर्व अभ्यास बन सके तो अच्छा ही है और यदि न हो सके तो अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा हो सके वैसा ही अभ्यास करो, अपने उपायमें आलस करना नहीं। तूने कहा जो प्रथमानुयोग सम्बन्धी कथादिक सुननेमें पापसे डर कर धर्मानुरागरूप होता है वह तो वहाँ दोनों कार्य शिथिलता लिये होते हैं। यहाँ पुण्य-

पापके कारण कार्यादिक विशेष जाननेसे वे दोनों कार्य दृढ़ता लिये होते हैं। अतः उनका अभ्यास करना। इसप्रकार प्रथमानुयोगके पक्षपातीको इस शास्त्रके अभ्यासमें सन्मुख किया।

अब चरणानुयोगका पक्षपाती कहता है कि—इस शास्त्रमें कथित जीव-कर्मका स्वरूप है वह जैसे है वैसे ही है उनको जाननेसे क्या सिद्धि होती है? यदि हिंसादिकका त्याग करके उपवासादि तप किया जाय वा व्रतका पालन किया जाय वा अरिहन्तादिककी पूजा, नाम, स्मरण आदि भक्ति की जाय वा दान दीजिये वा विषय-कषायादिकसे उदासीन बने इत्यादिक जो शुभकार्य किया जाय तो आत्महित हो, इसलिये इनका प्ररूपक चरणानुयोगका उपदेशादिक करना। उसको कहते हैं कि हे स्थूलबुद्धि! तूने व्रतादिक शुभ कार्य कहे वह करने योग्य ही हैं किन्तु वे सर्व सम्यक्त्व विना ऐसे हैं जैसे अंक विना बिंदी। और जीवादिकका स्वरूप जाने विना सम्यक्त्वका होना ऐसा, जैसे बांझका पुत्र, अतः जीवादिक जाननेके अर्थ इस शास्त्रका अभ्यास अवश्य करना।

तूने जिसप्रकार व्रतादिक शुभकार्य कहा; और उससे पुण्य बन्ध होता है। उसी प्रकार जीवादिक जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है वह प्रधान शुभ कार्य है। इससे अतिशय पुण्यका बन्ध होता है और उन व्रतादिकमें भी ज्ञानाभ्यासकी ही मुख्यता है उसे ही कहते हैं। जो जीव प्रथम जीव समासादि जीवोंके विशेष जानकर पश्चात् ज्ञानसे हिंसादिकका त्यागी बनकर व्रतको धारण करे वही व्रती है। जीवादिकके विशेषको जाने विना कथंचित् हिंसादिकके त्यागसे आपको व्रती माने तो वह व्रती नहीं है। इसलिये व्रत पालनमें भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। तपके दो प्रकार है—(१) बहिरंग, (२) अन्तरंग। जिसके द्वारा शरीरका दमन हो वह बहिरंग तप है। और जिससे मनका दमन होवे; वह अन्तरंग तप है। इनमें बहिरंग तपसे अन्तरंग तप उत्कृष्ट है। उपवासादिक बहिरंग तप है, ज्ञानाभ्यास अन्तरंग तप

है। सिद्धान्तमें भी ६ प्रकारके अन्तरंग तपोंमें चौथा स्वाध्याय नामका तप कहा है, उसमे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही हैं; इसलिये तप करनेमें भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। जीवादिकके विशेषरूप गुणस्थानादिकका स्वरूप जाननेसे ही अरिहंत आदिका स्वरूप भले प्रकार पहिचाने जाते हैं। अपनी अवस्था पहचानी जाती है; ऐसी पहिचान होनेपर जो अंतरगमें तीव्र भक्ति प्रकट होती है वही वहुत कार्यकारी है। जो कुलक्रमादिकसे भक्ति होती है वह किंचित्मात्र ही फल देती है। इसलिये भक्तिमें भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

दान चार प्रकारका होता है, उनमें आहारदान, औषधदान अभयदान तो तत्काल क्षुधाके दु:खको या रोगके या मरणादिक दु:खको दूर करते हैं। और ज्ञानदान वह अनन्तभवसन्तानसे चले आ रहे दु:खको दूर करनेमें कारण है। तीर्थंकर, केवली, आचार्यादिकके भी ज्ञानदानकी प्रवृत्ति है। इससे ज्ञानदान उत्कृष्ट है, इसलिये अपने ज्ञानाभ्यास हो तो अपना भला कर लेता है और अन्य जीवोंको भी ज्ञानदान देता है।

ज्ञानाभ्यासके विना ज्ञानदान कैसे हो सकता है? इसलिये दोनोंमें भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। जैसे जन्मसे ही कोई पुरुष ठगोंके घर जाय वहां वह ठगोंको अपना मानता है, कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्तसे अपने कुलका और ठगोंका यथार्थ ज्ञान करनेसे ठगोंसे अन्तरंगमें उदासीन हो जाता है। उनको पर जानकर सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। वाहरमें जैसा निमित्त है वैसी प्रवृत्ति करता है। और कोई पुरुष उन ठगोंको अपना ही जानता है, किसी कारणसे कोई ठगोंसे अनुराग करता है और कोई ठगोंसे लड़कर उदासीन होता है, आहारादिकका त्याग कर देता है। वैसे अनादिसे सव जीव संसारमें हैं, वह कर्मोंको अपना मानता है। उनमें कोई जीव किसी निमित्तसे जीव और कर्मका यथार्थ ज्ञान करके कर्मोंसे उदासीन होकर उनको पर

जानता है, उनसे संवन्ध छुड़ाना चाहता है। वाहरमें जैसा निमित्त है वैसी प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार ज्ञानाभ्यास के द्वारा उदासीन होता है वही कार्यकारी है। कोई जीव उन कर्मोंको अपना जानता है और किसी कारणसे कोई कर्मोंसे अनुरागरूप प्रवृत्ति करता है, कोई अशुभ कर्मको दुःखका कारण जानकर उदासीन होकर विषयादिकका त्यागी होता है, इसप्रकार ज्ञानके विना जो उदासीनता होती है वह पुण्यफलकी दाता है, मोक्षकार्यका साधन नहीं है। अतः उदासीनतामें भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। उसीप्रकार अन्य भी शुभ कार्योंमें ज्ञानाभ्यास ही प्रधान जानना। देखो, महामुनिके भी ध्यान अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। इसलिये शास्त्र अध्ययन द्वारा जीव-कर्मका स्वरूप जानकर स्वरूपध्यान करना।

यहाँ कोई तर्क करे कि-कोई जीव शास्त्रअध्ययन तो वहुत करता है और विषयादिकका त्यागी नहीं होता तो उसको शास्त्रअध्ययन कार्यकारी है या नहीं? यदि है! तो महन्त पुरुष क्यों विषयादिक तजें? और नहीं तजें! तो ज्ञानाभ्यासकी महिमा कहाँ रही? उसका समाधान-शास्त्राभ्यासीको दो प्रकार हैं (१) लोभार्थी (२) आत्मार्थी १-वहाँ अन्तरंग अनुरागके बिना ख्याति लाभ पूजादिकके प्रयोजनसे शास्त्राभ्यास करे वह लोभार्थी है; वह विषयादिकका त्याग नहीं करता। अथवा ख्याति पूजा लाभादिकके अर्थ विषयादिकका त्याग भी करे फिर भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है।

२-जो जीव अन्तरंग अनुरागसे आत्महितके अर्थ शास्त्राभ्यास करता है वह धर्मार्थी है। प्रथम तो जैनशास्त्र ही ऐसे हैं कि जो उनका धर्मार्थी होकर अभ्यास करता है वह विषयादिकका त्याग करता ही है। उनका तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है ही।

कदाचित् पूर्वकर्मोदयकी प्रवलतासे (अर्थात् कषायशक्तिकी प्रवलता होनेसे) न्यायरूप विषयादिकका त्याग न हो तो भी उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान होनेसे ज्ञानाभ्यास कार्यकारी होता है। जिसप्रकार

असंयत गुणस्थानमें विषयादिकके त्याग विना भी मोक्षमार्गपना संभव है।

प्रश्नः—जो धर्मार्थी हुआ है, जैनशास्त्रका अभ्यास करता है, उसके विषयादिकका त्याग न हो सके ऐसा तो नहीं बनता। विषयादिकका सेवन परिणामोंसे होता है, परिणाम स्वाधीन है। समाधानः—परिणाम ही दो प्रकार हैं (१) बुद्धिपूर्वक (२) अबुद्धिपूर्वक। अपने अभिप्रायके अनुसार हो वह बुद्धिपूर्वक और दैव (कर्म) निमित्तसे अपने अभिप्रायसे अन्यथा (विरुद्ध) हो वह अबुद्धिपूर्वक। जैसे सामायिक करनेमें धर्मात्माका अभिप्राय तो ऐसा है कि मैं मेरे परिणाम शुभरूप रखूं, वहाँ जो शुभ परिणाम ही हों वह तो बुद्धिपूर्वक, और कर्मोदयसे (कर्मोंके उदयमें युक्त होनेसे) स्वयमेव अशुभ परिणाम होता है वह अबुद्धिपूर्वक जानना। (यह दृष्टान्त है) उसी-प्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्रका अभ्यास करता है उसका अभिप्राय तो विषयादिकके त्यागरूप वीतरागभावकी प्राप्तिका ही होता है, वहाँ पर वीतरागभाव हुआ वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोहके उदयसे (-उदयके वश होने पर) सरागभाव (आंशिक च्युति; पराश्रयरूप परिणाम) होता है वह अबुद्धिपूर्वक है अतः स्ववश विना (परवश) जो सरागभाव होता है उसके द्वारा उसको विषयादिककी प्रवृत्ति दिख रही है इसलिये बाह्य प्रवृत्तिका कारण परिणाम है।

प्रश्नः—यदि इसप्रकार है तो हम भी विषयादिकका सेवन करेंगे और कहेंगे-हमारे उदयाधीन कार्य होते हैं। उत्तर—रे मूर्ख ! कुछ कहनेसे होता नहीं। सिद्धि तो अभिप्रायके अनुसार है इसलिये जैन-शास्त्रके अभ्यास द्वारा अपने अभिप्रायको सम्यक्‌रूप करना। और अन्तरंगमें विषयादिक सेवनका अभिप्राय हो तो धर्मार्थी नाम कैसे प्राप्त होगा ? अतः धर्मार्थीपन बनता ही नहीं। इसप्रकार चरणानुयोगके पक्षपातीको इस शास्त्रके अभ्यासमें सन्मुख किया।

अब द्रव्यानुयोगका पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्रमें जीवके

गुणस्थानादिरूप विशेष और कर्मके विशेष (भेद) का वर्णन किया है, किन्तु उनको जाननेसे तो अनेक विकल्प-तरंग उत्पन्न होते हैं और कुछ सिद्धि नहीं है। इसलिये अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना वा स्व-परका भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है, अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्मशास्त्र उन्हींका अभ्यास करना योग्य है। अब उनीको कहते हैं—

हे सूक्ष्माभास ! तूने कहा वह सत्य है, किन्तु अपनी अवस्था देखना। जो स्वरूपानुभवमें वा भेदविज्ञानमें उपयोग निरन्तर रहता है तो अन्य विकल्प क्यों करने ? वहां ही स्वरूपानन्द सुधारसका स्वादी होकर संतुष्ट होना। किन्तु निचली अवस्थामें वहां निरन्तर उपयोग रहता ही नहीं, उपयोग अनेक अवलम्बोंको चाहता है। अतः जिसकाल वहां उपयोग न लगे तब गुणस्थानादि विशेष जाननेका अभ्यास करना। तूने कहा जो अध्यात्मशास्त्रका ही अभ्यास करना युक्त है; किन्तु वहाँ भेदविज्ञान करनेके लिये स्व-परका सामान्यपने स्वरूपनिरूपण है, और विशेष ज्ञान विना सामान्यका जानना स्पष्ट नहीं होता। इसलिये जीव और कर्मका विशेष अच्छी तरह जाननेसे ही स्व-परका जानना स्पष्ट होता है। उस विशेष जाननेके लिये इस शास्त्रका अभ्यास करना। कारण—सामान्यशास्त्रसे विशेषशास्त्र बलवान है। वही कहा है—"सामान्य शास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्।"

यहां कहते हैं कि अध्यात्मशास्त्रोंमें तो गुणस्थानादि विशेषों (भेदों)से रहित शुद्धस्वरूपका अनुभव करना उपादेय कहा है और यह गुणस्थानादि सहित जीवका वर्णन है। इसलिये अध्यात्मशास्त्र और इस शास्त्रमें तो विरुद्धता भासित होती है वह कैसे है ? उसे कहते हैं:—

नय दो प्रकारके हैं:—१-निश्चय, २-व्यवहार।

निश्चयनयसे जीवका स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित अभेद-वस्तु मात्र ही है। और व्यवहारनयसे गुणस्थानादि विशेष सहित

और जो यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है वह अविनाशी है, भय रहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग–मोक्षका कारण है, अतः महंत पुरुष तो धनादिकको छोड़कर शास्त्राभ्यासमें ही लगते हैं, और तू पापी शास्त्राभ्यासको छुड़ाकर धन पैदा करनेकी वड़ाई करता है तो तू अनन्तसंसारी है। तूने कहा की प्रभावनादि धर्म भी धनसे ही होता है। किन्तु वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित् सावद्यक्रियासंयुक्त है; इसलिये समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है वह प्रधान है, यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्थामें प्रभावनादि धर्म-साधन थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यासमें किसलिये लगते हैं ?

शास्त्राभ्यास करनेसे प्रभावनादिक भी विशेष होती है। तूने कहा कि—धनवानके निकट पंडित भी आकरके रहते हैं ! सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो वहाँ ऐसा होता है। और शास्त्राभ्यासवालोंकी तो इन्द्रादिक भी सेवा करते हैं, यहां भी वड़े–वडे महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं, इसलिये शास्त्राभ्यास वालोंसे धनवानोंको महंत न जान। तूने कहा कि धनसे सर्व कार्यसिद्धि होती है, (किन्तु ऐसा नहीं है) उस धनसे तो इस लोकसंवंधी कुछ विषयादिक कार्य इस प्रकारके सिद्ध होते हैं जिससे वहुत काल तक नरकादिक दुःख सहन करने पड़ते हैं। और शास्त्राभ्याससे ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं कि जिससे इसलोक परलोकमें अनेक सुखोंकी परंपरा प्राप्त होती है, इसलिये धन पैदा करनेके विकल्पको छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। और जो ऐसा सर्वथा न वने तो संतोष पूर्वक धन पैदा करनेका साधन कर शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहना। इसप्रकार धन पैदा करनेके पक्षपातीको सन्मुख किया।

अब काम भोगादिकका पक्षपाती कहता है कि, शास्त्राभ्यास करनेमें सुख नहीं है, वड़प्पन नहीं है, इसलिये जिनके द्वारा यहाँ ही सुख हो ऐसे जो स्त्री-सेवन, खाना-पहिरना इत्यादिक विषयसुख उनका सेवन किया जाय अथवा जिसके द्वारा यहां ही वड़प्पन हो ऐसे विवाहा-

दिक कार्य किये जाय। अब उसको कहते हैं—विषयजनित जो सुख है वह दुःख ही है क्योंकि विषय-सुख पर-निमित्तसे होता है, पूर्व और पश्चात् तुरन्त ही आकुलता सहित है और जिसके नाश होनेके अनेक कारण मिलते ही हैं; आगामी नरकादि दुर्गतिको प्राप्त करानेवाला है....ऐसा होने पर भी वह तेरी चाह अनुसार मिलता ही नहीं, पूर्व पुण्यसे होता है, इसलिये विषम है। जैसे खाजसे पीड़ित पुरुष अपने अंगको कठोर वस्तुसे खुजाते हैं वैसे ही इन्द्रियोंसे पीड़ित जीव उनको पीड़ा सही न जाय तब किंचित्मात्र जिनमें पीड़ाका प्रतिकार सा भासे ऐसे जो विषयसुख उनमें झंपापात करते हैं, वह परमार्थरूप सुख है नहीं; और शास्त्राभ्यास करनेसे जो सम्यग्ज्ञान हुआ उससे उत्पन्न आनन्द, वह सच्चा सुख है। जिससे वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसीके द्वारा नष्ट नहीं होता, मोक्षका कारण है, विषम नहीं है। जिसप्रकार खाजकी पीड़ा नहीं होती तो सहज ही सुखी होता, उसीप्रकार वहाँ इन्द्रिय पीड़नेके लिये समर्थ नहीं होती तब सहज ही सुखको प्राप्त होता है। इसलिये विषयसुखको छोड़कर शास्त्राभ्यास करना, यदि सर्वथा न छूटे तो जितना हो सके उतना छोड़कर शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहना। तूने विवाहादिक कार्यमें बड़ाई होना कही वह कितने दिन बड़ाई रहेगी? यह बड़ाई जिसके लिये महापापारंभसे नरकादिमें बहुतकाल दुःख भोगना होगा; अथवा तुझसे भी उन कार्योंमें धन लगानेवाले बहुत हैं अतः विशेष बड़ाई भी होनेवाली नहीं है। और शास्त्राभ्याससे तो ऐसी बड़ाई होती है कि जिनको सर्वजन महिमा करते हैं। इन्द्रादिक भी प्रशंसा करते हैं। और परंपरा भी स्वर्ग-मुक्तिका कारण है। इसलिये विवाहादिक कार्योंका विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यासका उद्यम रखना। सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प न करना। इसप्रकार मान-भोगादिकके पक्षपातीको शास्त्राभ्यासमें सन्मुख किया।

इसप्रकार अन्य भी जो विपरीत विचारसे इस ग्रन्थके अभ्यासमें अरुचि प्रगट करते हैं, उनको यथार्थ विचारसे इस शास्त्रके अभ्यासमें सन्मुख होना योग्य है।

परिणाम होने अति·दुर्लभ हैं, अन्य पर्यायके कारण अशुभरूप वा शुभरूप परिणाम होने सुलभ हैं। इसप्रकार शास्त्राभ्यासका कारण जो पर्याय कर्मभूमि या मनुष्य पर्याय, उसका दुर्लभपना जानना। वहाँ सुवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियोंकी सामर्थ्य, नीरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धिकी प्रवलता इत्यादिकी प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महा दुर्लभ है। यह प्रत्यक्ष दीख रहा है; और उतनी सामग्री मिले विना ग्रन्थाभ्यास वनता नहीं, सो तुमने भाग्यसे अवसर पाया है इसलिये तुमको हठसे भी तुम्हारे हितके लिये प्रेरणा करते हैं। जैसे हो सके वैसे इस शास्त्रका अभ्यास करो, अन्य जीवोंको जैसे वने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ। जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना, व पढ़ने–पढानेवालोंकी स्थिरता करनी इत्यादि शास्त्राभ्यासके वाह्य कारण, उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परंपरा कार्यसिद्धि होती है व महत् पुण्य उत्पन्न होता है। इसप्रकार इस शास्त्रके अभ्यासादिमें जीवोंको रुचिवान किया।

"समाधि–मरण स्वरूप"

[आचार्य कल्प श्री पं० टोडरमलजीके सहपाठी और धर्म–प्रभावनामें उत्साह प्रेरक श्रीयुत ब्र० रायमलजी कृत "ज्ञानानन्द निर्भर निजरस श्रावकाचार" नामक ग्रन्थ (पृ० २२४ से २४३) में से यह अधिकार अति उपयोगी जानकर धर्म–जिज्ञासुओंके लिये यहां दिया गया है। [कविवर श्री 'बुधजन'जीके शब्दोंमें—"यह समाधि–मरण स्वरूप पं० श्री टोडरमलजी के सुपुत्र श्री पं० गुमानीरामजीकृत ही है।"]

हे भव्य ! तू सुन ! अब समाधिमरणका लक्षण वर्णन किया जाता है। समाधि नाम निःकषायका है, शान्त परिणामोंका[1] है, कषाय रहित शांत परिणामोंसे मरण होना समाधिमरण है। संक्षिप्तरूपसे समाधिमरणका यही वर्णन है विशेषरूपसे कथन आगे किया जा रहा है।

सम्यक्ज्ञानी पुरुषका यह सहज स्वभाव ही है कि वह समाधि-मरण ही की इच्छा करता है, उसकी हमेशा यही भावना रहती है, अन्तमें मरण समय निकट आने पर वह इस प्रकार सावधान होता है जिसप्रकार वह सोया हुआ सिंह सावधान होता है जिसको कोई पुरुष ललकारे कि हे सिंह ! तुम्हारे पर वैरियोंकी फौज आक्रमण कर रही है, तुम पुरुषार्थ करो और गुफासे बाहर निकलो ! जब तक वैरियोंका समूह दूर है तब तक तुम तैयार हो जाओ वैरियोंकी फौजको जीत लो। महान् पुरुषोंकी यही रीति है कि वे शत्रुके जाग्रत होनेसे पहले तैयार होते हैं।

(१) क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं।

समझना चाहिये। इतने दिन तक लाखों मनुष्योंका परिणमन एक-सा रहा, ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य आश्चर्य मानता है। तत्पश्चात् वे लाखों मनुष्य भिन्न भिन्न दशों दिशाओंमें चले जाते हैं तव 'मेला' का नाश हो जाता है। यह तो इन पुरुषोंका अपना अपना परिणमन ही है जो कि इनका स्वभाव है इसमें आश्चर्य क्या? इसी प्रकार शरीरका परिणमन नाश रूप होता है यह स्थिर कैसे रहेगा?

अब इस 'शरीर' पर्यायको रखनेमें कोई समर्थ न होनेका कारण वताते हैं:—तीन लोकमें जितने पदार्थ हैं वे सव अपने-अपने स्वभाव रूप परिणमन करते हैं। कोई किसीका कर्त्ता नहीं है, कोई किसीका भोक्ता नहीं, स्वयं ही उत्पन्न होता है स्वयं ही नष्ट होता है, स्वयं ही मिलता है, स्वयं ही विछुड़ता है, स्वयं ही गलता है तो मैं इस शरीरका कर्त्ता और भोक्ता कैसे? और मेरे रखनेसे यह (शरीर) कैसे रहे? और उसी प्रकार मेरे दूर करनेसे यह दूर कैसे हो जाय? मेरा इसके प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, पहले झूठा ही अपना कर्त्तव्य मानता था। मैं तो अनादिकालसे आकुल-व्याकुल होकर महादुःख पा रहा था। सो यह वात न्याय युक्त ही है। जिसका किया कुछ नहीं होता, वह पर-द्रव्यका कर्त्ता होकर उसे अपने स्वभावके अनुसार परिणमाना चाहे तो वह दुःख पावे ही पावे।

मैं तो इस ज्ञायकस्वभाव ही का कर्त्ता और भोक्ता हूं और उसीका वेदन एवं अनुभव करता हूं। इस शरीरके जानेसे मेरा कुछ भी विगाड़ नहीं और इसके रहनेसे कुछ सुधार भी नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष ही काष्ठ या पाषाणकी तरह अचेतन द्रव्य है। काष्ठ, पाषाण और शरीरमें कोई भेद नहीं है। इस शरीरमें एक जाननेका ही चमत्कार है सो वह तो मेरा स्वभाव है न कि शरीर-का। शरीर तो प्रत्यक्ष ही मुर्दा है। मेरे निकल जाने पर इसे जला देते हैं। मेरे ही मुलाहिजेसे इस शरीरका जगत द्वारा आदर किया जाता है किन्तु जगतको यह खवर नहीं है कि आत्मा और शरीर

भिन्न भिन्न हैं। इसीसे जगतके लोग भ्रमके कारण ही, इस शरीर-से, अपना जानकर, ममत्व करते हैं और इसको नष्ट होते देखकर दुःखी होते हैं और शोक करते हैं कि "हाय ! हाय !! मेरा पुत्र, तू कहां गया ? हाय ! हाय !! मेरा पति तू कहां गया ?; हाय ! हाय !! मेरी पुत्री, तू कहाँ गई ? हाय पिता ! तू कहाँ गया ? हाय इष्ट भ्रात ! तू कहां गया ?" इसप्रकार अज्ञानी पुरुष पर्यायों को नष्ट होते देखकर दुःखी होते हैं और महादुःख एवं क्लेश को पाते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसे विचार करते हैं:—"किसका पुत्र ? किसकी पुत्री ? किसका पति ? किसकी स्त्री ? किसकी माता ? किसका पिता ? किसकी हवेली ? किसका मंदिर ? किसका माल ? किसका आभूषण और किसका वस्त्र ? ये सब सामग्री झूठी, विनाशीक हैं अतः ये सब उसी प्रकारसे अस्थिर हैं जैसे स्वप्नमें दिखा हुआ राज्य, इन्द्रजाल द्वारा बनाया हुआ तमाशा, भूतोंकी माया या आकाशमें बादलोंकी शोभा। ये सब वस्तुएं देखनेमें रमणीक लगती हैं किन्तु इनका स्वभाव विचारें तो कुछ भी नहीं है। यदि वस्तु होती तो स्थिर रहती और नष्ट क्यों होती ? ऐसा जानकर मैं त्रिलोकमें जितनी पुद्गलकी पर्यायें हैं उन सबसे ममत्व छोड़ता हूं और अपने शरीरसे भी ममत्व छोड़ता हूं इसीसे इसके नष्ट होनेसे मेरे परिणामोंमें अंश मात्र भी खेद नहीं है। ये शरीरादि सामग्री चाहे जैसे परिणमें मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। चाहे ये कम हो, चाहे भीगो, चाहे नष्ट हो जावो मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

अहो देखो ! मोहका स्वभाव ? ये सब सामग्री प्रत्यक्ष ही परवस्तु हैं और उसमें भी ये विनाशीक हैं और इस भव और परभवमें दुःखदाई हैं तो भी यह संसारी जीव इन्हें अपना समझकर रखना चाहता है, मैं ऐसा चरित्र देखकर ही ज्ञान-दृष्टि वाला हुआ हूं। मेरा केवल 'ज्ञान' ही अपना स्वभाव है और उसे ही मैं देखता हूं और पुद्गल आगमन देखकर नहीं रखता हूं। काल तो इन शरीरका

ग्राहक है मेरा ग्राहक नहीं है। जैसे मक्खी, मिठाई आदि स्वादिष्ट वस्तुओं पर ही जाकर बैठती है किन्तु अग्नि पर कदाचित् भी नहीं बैठती है उसी प्रकार काल (मृत्यु) भी दौड़–दौड़ कर शरीर ही को पकड़ता है। और मेरेसे तो दूर ही भागता है। मैं तो अनादि कालसे अविनाशी चैतन्य देव त्रिलोक द्वारा पूज्य पदार्थ हूं। उस पर कालका जोर नहीं चलता। इसप्रकार कौन मरता है ? और कौन जन्म लेता है ? और कौन मृत्युका भय करे ? मुझे तो मृत्यु दीखती नहीं है। जो मरता है वह तो पहले ही मरा हुआ था और जीता है वह पहले ही जीता था। जो मरता है वह जीता नहीं और जीता है वह मरता नहीं है। किन्तु मोह दृष्टिके कारण विपरीत मालूम होता था। अब मेरा मोहकर्म नष्ट हो गया इसलिये जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसा ही मुझे दृष्टिगोचर होता है उसमें जन्म, मरण, दुःख, सुख दिखाई नहीं पड़ते। अतः मैं अब किस बातका सोच–विचार करूँ ?

"मैं तो चैतन्यशक्ति वाला शाश्वत बना रहनेवाला हूँ उसका अवलोकन करते हुए दुःखका अनुभव कैसे हो ? मैं कैसा हूँ ? मैं ज्ञानानन्द, स्वात्म रससे परिपूर्ण हूँ **और शुद्धोपयोगी हुआ ज्ञान रसका आचरण करता** हूँ और ज्ञानांजलि द्वारा उस अमृतका पान करता हूँ। वह अमृत मेरे स्वभावसे उत्पन्न हुआ है इसलिये वह स्वाधीन है पराधीन नहीं है इसलिये मुझे उसके आस्वादनमें खेद नहीं है।

"मैं कैसा हूँ ?"

मैं अपने निजस्वभावमें स्थित हूं, अकंप हूँ। मैं ज्ञानामृतसे परिपूर्ण हूँ। मैं दैदीप्यमान ज्ञानज्योति युक्त अपने ही निज स्वभावमें स्थित हूँ।

देखो ! इस अद्‌भुत चैतन्य स्वरूपकी महिमा ! उसके ज्ञानस्वभावमें समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकनेमें (जाननेमें)

विकल्पका अंश भी नहीं है इसीलिये उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधा रहित और अखंड सुख उत्पन्न होता है। ऐसा सुख संसारमें नहीं है, संसारमें तो दुःख ही है। अज्ञानी जीव इस दुःखमें भी सुखका अनुमान करते हैं किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।

"मैं कैसा हूँ ?" मैं ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण हूँ और उन गुणोंसे एकमय हुआ अनन्त गुणोंकी खान बन गया हूँ।

"मेरा चैतन्य स्वरूप कैसा है ?" सर्वांगमें चैतन्य ही चैतन्य उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार नमककी डली (टुकड़ेमें) में सर्वत्र क्षार रस है या जिसप्रकार शक्कर की डलीमें सर्वत्र अमृतरस व्याप्त हो रहा है। वह शक्करकी डली पूर्णतः अमृतमय पिंड ही है वैसे ही मैं एक ज्ञानामय पिंड बना हुआ हूँ। मेरे सर्वांगमें ज्ञान ही ज्ञान है। जितना-जितना शरीरका आकार है उतना-उतना ही आकारके निमित्त मेरा आकार है किन्तु अवगाहन शक्ति द्वारा मेरा इतना बड़ा आकार इतनेसे आकारमें समा जाता है। एक प्रदेशमें असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न रहते हैं। उनमें संकोच विस्तारकी शक्ति है ऐसा सर्वज्ञ देवने देखा है।

"मेरा निजस्वरूप कैसा है ?" वह अनन्त आत्मीक सुखका भोक्ता है तथा एक सुखकी ही मूर्ति है, वह चैतन्यमय पुरुषाकार है। जैसे मिट्टीके सांचेमें एक शुद्ध चांदीकी प्रतिमा बनाई जाय वैसे ही इस शरीरके सांचेमें आत्माको जानना चाहिये। मिट्टीका सांचा समय पाकर गल जाता है, जल जाता है, टूट जाता है किन्तु चांदीकी प्रतिमा ज्यों की त्यों बनी रहे वह आवरण रहित होकर सबको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाय। सांचेके नाश होनेसे प्रतिमाका नाश नहीं होता है परन्तु पहलेसे ही दो थी इसलिये एकके नाश होनेसे दूसरेका नाश कैसे हो ? यह तो सर्वमान्य नियम है। वैसे ही समय पाकर शरीर नष्ट होता है तो होओ मेरे स्वभावका नाश होता नहीं, मैं किस कारण शोक करूं ?

"चैतन्यरूप कैसा है ?" वह आकाशके समान निर्मल है, आकाशमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। बिल्कुल वह स्वच्छ निर्मल है। यदि कोई आकाशको तलवारसे तोड़ना, काटना चाहे या अग्निसे जलाना चाहे या पानीसे गलाना चाहे तो वह आकाश कैसे तोड़ा, काटा जावे या जले या गले ? उसका बिलकुल नाश नहीं हो सकता। यदि कोई आकाशको पकड़ना या तोड़ना चाहे तो वह पकड़ा या तोड़ा नहीं जा सकता। वैसे ही मैं आकाश की तरह अमूर्तिक, निर्विकार, पूर्ण निर्मलताका पिण्ड हूँ। मेरा नाश किस प्रकार हो ? किसी भी प्रकार नहीं हो, यह नियम है। यदि आकाशका नाश हो तो मेरा भी हो, ऐसा जानना। किन्तु आकाशके और मेरे स्वभावमें इतना विशेष अन्तर है कि आकाश तो जड़ अमूर्तिक पदार्थ है और मैं चैतन्य अमूर्तिक पदार्थ हूं मैं चैतन्य हूँ इसीलिये ऐसा विचार करता हूँ कि आकाश जड़ है और मैं चैतन्य। मेरे द्वारा जानना प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होता है और आकाश नहीं जानता है।

"मैं कैसा हूं ?" मैं दर्पणकी तरह स्वच्छ शक्तिका ही पिंड हूं। दर्पणकी स्वच्छ शक्तिमें घट-पटादि पदार्थ स्वयमेव ही झलकते हैं। दर्पणमें स्वच्छ शक्ति व्याप्त रहती है वैसे ही मैं स्वच्छ शक्तिमय हूं। मेरी स्वच्छ शक्तिमें (कर्म रहित अवस्थामें) समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव ही झलकते हैं ऐसी स्वच्छ शक्ति मेरे स्वभावमें विद्यमान है। `रे सर्वांगमें एक स्वच्छता भरी हुई है मानों ये ज्ञेय पदार्थ भिन्न हैं। यह स्वच्छता शक्तिका स्वभाव ही है कि उसमें अन्य पदार्थोंका दर्शन होता है।

मैं कैसा हूं ? मैं अत्यन्त अतिशय निर्मल, साक्षात् प्रकट ज्ञानका पुंज बना हुआ हूँ और अनन्त शान्तिरससे परिपूर्ण और एक अभेद निराकुलता से व्याप्त हूँ।

"मेरा चैतन्यस्वरूप कैसा है ?" वह अपनी अनन्त महिमासे युक्त है, वह किसीकी सहायता नहीं चाहता है, वह असहाय स्वभावको

धारण किये हुए है। वह स्वयंभू है, वह एक अखण्ड ज्ञान मूर्ति,
पर द्रव्यसे भिन्न, शाश्वत, अविनाशी और परमदेव है और इसके
अतिरिक्त उत्कृष्ट देव किसे मानें ? यदि त्रिकालमें कोई हो तो
मानें ? नहीं है।

"यह ज्ञान स्वरूप कैसा है ?" वह अपने स्वभावको छोड़कर
अन्यरूप नहीं परिणमता है। वह अपने स्वभावकी मर्यादा उसीप्रकार
नहीं छोड़ता जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण समुद्र सीमाको छोड़कर
अन्यत्र गमन नहीं करता। समुद्र अपनी लहरोंकी सीमामें भ्रमण
करता है। उसी प्रकार ज्ञानरूपी समुद्र अपनी शुद्ध परिणतिरूप
तरंगावलि युक्त अपने सहज स्वभावमें भ्रमण करता है। ऐसी अद्भुत
महिमा युक्त मेरा ज्ञान स्वरूप परमदेव, अनादिकालसे इस शरीरसे
भिन्न है।

मेरे और इस शरीरके पड़ौसीके समान संयोग है। मेरा
स्वभाव अन्य प्रकारका है और इसका स्वभाव अन्य प्रकारका है।
मेरा परिणमन और इसका परिणमन भिन्न प्रकारका है। इसलिये
यदि यह शरीर अभी गलन रूप परिणमता है तो मैं किस बातका
शोक करूं। और किसका दुःख करूं ? मैं तो तमाशगीर पड़ौसीकी
तरह इसका गलन देख रहा हूं। मेरे इस शरीरसे राग-द्वेष नहीं है।
राग-द्वेष इस जगतमें निंद्य समझे जाते हैं और ये परलोकमें भी दुख
दाई हैं। ये राग-द्वेष-मोह ही से उत्पन्न होते हैं। जिसके मोह नष्ट हो
गया उसके राग-द्वेष नष्ट हो गये। मोहके द्वारा ही पर द्रव्यमें अहं-
कार और ममकार उत्पन्न होते हैं। यह द्रव्य है सो मैं हूं ऐसा भाव
तो अहंकार है और यह द्रव्य मेरा है ऐसा भाव ममकार है। पर
सामग्री चाहने पर मिलती नहीं और छोड़ी जाती नहीं तब यह आत्मा
खेद खिन्न होता है। यदि सर्व सामग्रीको दूसरोंकी जाने तो इसके
(सामग्री) जाने और आनेका विकल्प क्यों उत्पन्न हो ? मेरे तो मोह

पयोगकी आराधना करूंगा और शरीर नहीं रहेगा तो परलोकमें जाकर शुद्धोपयोगकी आराधना करूंगा। इस प्रकार दोनों ही स्थितिमें मेरे शुद्धोपयोगके सेवनमें कोई विघ्न नहीं दिखता है इसलिये मेरे परिणामोंमें संक्लेश क्यों उत्पन्न हो ?

"मेरे परिणामोंमें शुद्ध" स्वरूपसे अत्यन्त आसक्ति है। उस आसक्तिको छुड़ानेमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं। इस आसक्तिको छुड़ानेमें केवल मोह कर्म ही समर्थ है जिसे मैंने पहले ही जीत लिया। इसलिए अब तीन लोकमें मेरा कोई शत्रु नहीं रहा और शत्रुओं विना त्रिकाल-त्रिलोकमें दुःख नहीं है। इसलिये मरणसे मुझे भय कैसे हो ? इस प्रकार मैं आज पूर्णतः निर्भय हुआ हूँ। यह बात अच्छी तरह जाननी चाहिये इसमें कुछ संदेह नहीं है।"

शुद्धोपयोगी पुरुप इस प्रकार शरीरकी स्थितिसे पूर्णतः परिचित है और ऐसा विचार करनेसे उसके किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं होती है। आकुलता ही संसारका वीज है इस आकुलतासे ही संसारकी स्थिति एवं वृद्धि होती है। अनन्त कालसे किए हुए संयमादि गुण आकुलतासे इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्निमें रुई नष्ट हो जाती है।

"सम्यक्दृष्टि पुरुषको किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं करनी चाहिये और वस्तुतः एक निज स्वरूपका ही बारम्बार विचार करना चाहिये उसीको देखना चाहिए और उसीके गुणोंका संस्मरण, चिन्तवन निरन्तर करना चाहिये! उसीमें स्थित रहना चाहिये और कदाचित् शुद्ध स्वरूपसे चित्त चलायमान हो तो ऐसा विचार करना चाहिए।" यह संसार अनित्य है। इस संसारमें कुछ भी सार नहीं है। यदि इसमें कुछ सार होता तो तीर्थंकर देव इसे क्यों छोड़ते ?

"इसलिये निश्चयतः मुझे मेरा स्वरूप ही ——— ——

वास्तवः पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी और रत्नत्रयधर्म शरण हैं और मुझे इनके अतिरिक्त स्वप्नमें भी और कोई वस्तु शरणरूप नहीं, ऐसा मैंने नियम लिया है"।

सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसा नियम कर स्वरूपमें उपयोग लगावे और इसमें उपयोग नहीं लगे तो अरिहंत और सिद्धके स्वरूपका अवलोकन करे और उनके द्रव्य, गुण, पर्यायका विचार करे। ऐसा विचार करते हुए उपयोग निर्मल हो तब फिर उसे (उपयोगको) अपने स्वरूपमें लगावे। अपने स्वरूप जैसा अरिहंतोंका स्वरूप है और अरिहंत सिद्धका स्वरूप जैसा अपना स्वरूप है। अपने (मेरी आत्माके) और अरिहंत-सिद्धोंके द्रव्यत्व स्वभावमें अन्तर नहीं है किन्तु उनके पर्याय स्वभावमें अन्तर है ही। मैं द्रव्यत्व स्वभावका ग्राहक हूँ इसलिये अरिहंतका ध्यान करते हुए आत्माका ध्यान भली प्रकार सधता है और आत्माका ध्यान करते हुए अरिहंतोंका ध्यान भलीप्रकार सधता है। अरिहंतों और आत्माके स्वरूपमें अन्तर नहीं है चाहे अरिहंतका ध्यान करो या चाहे आत्माका ध्यान करो दोनों समान है।" ऐसा विचार हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधानीपूर्वक स्वभावमें स्थित होता है।

सम्यग्दृष्टि अब क्या विचार करता है और कैसे कुटुम्ब, परिवार आदिसे ममत्व छुड़ाता है सो कहते हैं। वह सबसे पहले अपने माता-पिताको समझाता है :—

अहो ! इस शरीरके माता-पिता ! आप यह अच्छी तरह जानते हो कि यह शरीर इतने दिनों तक तुम्हारा था अब तुम्हारा नहीं है। अब इसकी आयु पूरी होनेवाली है सो किसीके रखनेसे यह रखा नहीं जा सकता। इसकी इतनी ही स्थिति है सो अब इससे ममत्व छोड़ो! अब इससे ममत्व करनेसे क्या फायदा? अब इसमें प्रीति करना दुःख ही का कारण है। इन्द्रादिक देवोंकी शरीरपर्याय विनाशीक है। जब मृत्यु समय आवे तब इन्द्रादिक देव भी

पयोगकी आराधना करूंगा और शरीर नहीं रहेगा तो परलोकमें जाकर शुद्धोपयोगकी आराधना करूंगा। इस प्रकार दोनों ही स्थितिमें मेरे शुद्धोपयोगके सेवनमें कोई विघ्न नहीं दिखता है इसलिये मेरे परिणामोंमें संक्लेश क्यों उत्पन्न हो ?

"मेरे परिणामोंमें शुद्ध" स्वरूपसे अत्यन्त आसक्ति है। उस आसक्तिको छुड़ानेमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं। इस आसक्तिको छुड़ानेमें केवल मोह कर्म ही समर्थ है जिसे मैंने पहले ही जीत लिया। इसलिए अब तीन लोकमें मेरा कोई शत्रु नहीं रहा और शत्रुओं विना त्रिकाल–त्रिलोकमें दुःख नहीं है। इसलिये मरणसे मुझे भय कैसे हो ? इस प्रकार मैं आज पूर्णतः निर्भय हुआ हूँ। यह बात अच्छी तरह जाननी चाहिये इसमें कुछ संदेह नहीं है।"

शुद्धोपयोगी पुरुष इस प्रकार शरीरकी स्थितिसे पूर्णतः परिचित है और ऐसा विचार करनेसे उसके किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं होती है। आकुलता ही संसारका बीज है इस आकुलतासे ही संसारकी स्थिति एवं वृद्धि होती है। अनन्त कालसे किए हुए संयमादि गुण आकुलतासे इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्निमें रुई नष्ट हो जाती है।

"सम्यक्दृष्टि पुरुषको किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं करनी चाहिये और वस्तुतः एक निज स्वरूपका ही बारम्बार विचार करना चाहिये उसीको देखना चाहिए और उसीके गुणोंका संस्मरण, चिन्तवन निरन्तर करना चाहिये ! उसीमें स्थित रहना चाहिये और कदाचित् शुद्ध स्वरूपसे चित्त चलायमान हो तो ऐसा विचार करना चाहिए।" यह संसार अनित्य है। इस संसारमें कुछ भी सार नहीं है। यदि इसमें कुछ सार होता तो तीर्थंकर देव इसे क्यों छोड़ते ?

"इसलिये निश्चयतः मुझे मेरा स्वरूप ही शरण है और

वास्तवत: पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी और रत्नत्रयधर्म शरण हैं और मुझे इनके अतिरिक्त स्वप्नमें भी और कोई वस्तु शरणरूप नहीं, ऐसा मैंने नियम लिया है"।

सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसा नियम कर स्वरूपमें उपयोग लगावे और उसमें उपयोग नहीं लगे तो अरिहंत और सिद्धके स्वरूपका अवलोकन करे और उनके द्रव्य, गुण, पर्यायका विचार करे । ऐसा विचार करते हुए उपयोग निर्मल हो तब फिर उसे (उपयोगको) अपने स्वरूपमें लगावे । अपने स्वरूप जैसा अरिहंतोंका स्वरूप है और अरिहंत सिद्धका स्वरूप जैसा अपना स्वरूप है । अपने (मेरी आत्माके) और अरिहंत-सिद्धोंके द्रव्यत्व स्वभावमें अन्तर नहीं है किन्तु उनके पर्याय स्वभावमें अन्तर है ही । मैं द्रव्यत्व स्वभावका ग्राहक हूँ इसलिये अरिहंतका ध्यान करते हुए आत्माका ध्यान भलीप्रकार सधता है और आत्माका ध्यान करते हुए अरिहंतोंका ध्यान भली प्रकार सधता है। अरिहंतों और आत्माके स्वरूपमें अन्तर नहीं है चाहे अरिहंतका ध्यान करो या चाहे आत्माका ध्यान करो दोनों समान हैं।" ऐसा विचार हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधानीपूर्वक स्वभावमें स्थित होता है।

सम्यग्दृष्टि अब क्या विचार करता है और कैसे कुटुम्ब, परिवार आदिसे ममत्व छुड़ाता है सो कहते हैं । वह सबसे पहले अपने माता-पिताको समझाता है :—

अहो ! इस शरीरके माता-पिता ! आप यह अच्छी तरह जानते हो कि यह शरीर इतने दिनों तक तुम्हारा था अब तुम्हारा नहीं है । अब इसकी आयु पूरी होनेवाली है जो किसीके रखनेसे यह रखा नहीं जा सकता । इसकी इतनी ही स्थिति है सो अब इससे ममत्व छोडो ! अब इससे ममत्व करनेसे क्या फायदा ? अब इससे प्रीति करना दुःख ही का कारण है । इन्द्रादिक देवोंकी शरीरपर्याय भी विनाशीक है । जब मृत्यु समय आवे तब इन्द्रादिक देव भी

दुखी होकर मुँह ताकते रह जाते हैं और अन्य देवोंके देखते-देखते कालके किंकर उन्हें उठा ले जाते हैं, किसीकी यह शक्ति नहीं है कि कालके किंकरोंसे उन्हें क्षण मात्र भी रोक ले। इस प्रकार ये कालके किंकर एक-एक करके सबको ले जायेंगे। जो अज्ञान वश होकर कालके आधीन रहेंगे उनकी यही गति होगी। सो तुम मोहके वश होकर इस पराये शरीरसे ममत्व करते हो और इसे रखना चाहते हो, तुम्हें मोहके वश होनेसे संसार का चरित्र झूठा नहीं लगता है। दूसरेका शरीर रखना तो दूर तुम अपना शरीर तो पहले रखो फिर औरोंके शरीरके रखनेका उपाय करना। आपकी यह भ्रम बुद्धि है जो व्यर्थ ही दुखका कारण है किन्तु यह प्रत्यक्ष होते हुए भी तुम्हें नहीं दिख रहा है।

संसारमें अब तक कालने किसको छोड़ा है! और अब किसको छोड़ेगा? हाय! हाय!! देखो, आश्चर्यकी बात कि आप निर्भय होकर बैठे हो, यह आपकी अज्ञानता ही है। आपका क्या होनहार है? यह मैं नहीं जानता हूँ। इसीलिये आपसे पूछता हूँ कि आपको अपना और परका कुछ ज्ञान भी है! हम कौन हैं? कहांसे आए हैं? यह पर्याय पूर्ण कर कहाँ जायेंगे? पुत्रादिसे प्रेम करते हैं सो ये भी कौन हैं? हमारा पुत्र इतने दिन तक (जन्म लेनेसे पहले) कहां था जो इसके प्रति हमारी ममत्व बुद्धि हुई और हमें इसके वियोगका शोक हुआ? इन सब प्रश्नों पर सावधानी पूर्वक विचार करो और भ्रमरूप मत रहो।

आप अपना कर्त्तव्य विचारने और करनेसे सुखी होओगे। परका कार्य या अकार्य उसके (परके) हाथ है (अधीन है) उसमें आपका कर्त्तव्य कुछ भी नहीं है। आप व्यर्थ ही खेद खिन्न हो रहे हैं। आप मोहके वश होकर संसारमें क्यों डूबते हैं? संसारमें नरकादि-के दुःख आप ही को सहने पड़ेंगे, आपके लिये और कोई उन्हें नहीं सहेगा। जैनधर्मका ऐसा उपदेश नहीं है कि पाप कोई करे और

उसका फल भोगे दूसरा। अतः मुझे आपके लिये बहुत दया आती
है, आप मेरा यह उपदेश ग्रहण करें। मेरा यह उपदेश आपके लिए
सुखदाई है।

मैंने तो यथार्थ जिनधर्मका स्वरूप जान लिया है और
आप उससे विमुख हो रहे हैं इसी कारण मोह आपको दुख दे रहा
है। मैंने जिनधर्मके प्रतापसे सरलता पूर्वक मोहको जीत लिया है।
इसे जिनधर्मका ही प्रभाव जानो। इसलिये आपको भी इसका स्वरूप
विचारना कार्यकारी है। देखो! आप प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हैं
और शरीरादिक परवस्तु हैं। अपना स्वरूप अपने स्वभावरूप सहज
ही परिणमता है किसीके रखनेसे वह (परिणमन) रुकता नहीं है किन्तु
भोला जीव भ्रम रखता है आप भ्रम बुद्धि छोड़ें और स्व-परका
भेदविज्ञान समझें, अपना हित विचार कर कार्य करें। विचक्षण
पुरुषोंकी यही रीति है कि वे अपना हित ही चाहते हैं, वे निष्प्रयोजन
एक कदम भी नहीं रखते।

आप मुझसे जितना ज्यादा ममत्व करेंगे उतना ज्यादा दुःख
होगा, उससे कार्य कुछ भी बनेगा नहीं। इस जीवने अनन्त बार
अनंत पर्यायोंमें भिन्न-भिन्न माता-पिता पाये थे, वे अब कहां गये ?
इस जीवको अनन्तबार स्त्री, पुत्र-पुत्रीका संयोग मिला था वे कहां
गए ? इस जीवको पर्याय-पर्यायमें अनेक भाई, कुटुम्ब परिवारादि
मिले वे सब अब कहां गये ? यह संसारी जीव पर्यायबुद्धि वाला
है। इसे जैसी पर्याय मिलती है वह उसीको अपना स्वरूप मानता
है और उसमें तन्मय होकर परिणमने लगता है। वह यह नहीं जानता
है कि जो पर्यायका स्वरूप है वह विनाशीक है और मेरा स्वरूप नित्य,
शाश्वत और अविनाशी है इसे ऐसा विचार ही नहीं होता। इसमें
इस जीवका दोष नहीं है यह तो मोहका माहात्म्य है जो प्रत्यक्ष सच्ची
वस्तुको झूठी दिखा देता है। जिनके मोह का ही नाश है [illegible] भेद-
विज्ञानी हुए इस पर्यायमें [illegible] ऐसे जाने और यह [illegible]

सत्य माने ? वह दूसरे द्वारा चलित कैसे हो ? कदाचित नहीं हो।

अब मुझे यथार्थ ज्ञानभाव हुआ है। मुझे स्व-परका विवेक हो गया है। अब मुझे ठगनेमें कौन समर्थ है ? मैं अनादिकालसे पर्याय-पर्यायमें ठगाता चला आया हूँ, तत्परिणाम स्वरूप मैंने भव-भवमें जन्म-मरणके दुःख सहे। इसलिये अब आप अच्छी तरह जान लें कि आपके और हमारे इतने दिनोंका ही संयोग सम्बन्ध था जो अब पूर्ण प्रायः हो गया। अब आपको आत्मकार्य करना उचित है न कि मोह करना !!

इसलिये अब अपने शास्वत निज स्वरूपको सम्हालें। उसमें किसी तरहका खेद नहीं है। हमारे अपने ही घरमें अमूल्य निधि है उसको सम्हालनेसे जन्म-जन्मके दुःख नष्ट हो जाते हैं। संसारमें जन्म-मरणका जो दुःख है वह सब अपना स्वरूप जाने विना है इसलिये सबको ज्ञान ही की आराधना करनी चाहिये। ज्ञान-स्वभाव अपना निज स्वरूप है, उसकी प्राप्तिसे यह जीव महा सुखी होता है। आप प्रत्यक्ष देखने-जाननेवाले ज्ञायक पुरुष शरीरसे भिन्न ऐसा अपना स्वभाव उसे छोड़कर और किससे प्रीति की जावे ? मेरी स्थिति तो इस सोलहवें स्वर्गके कल्पवासी देवकी तरह है जो तमाशा हेतु मध्यलोकमें आवे और किसी गरीब आदमीके शरीरमें प्रविष्ट हो जावे और उसकी-सी क्रिया करने लगे। वह कभी तो लकड़ीका गट्ठर सिर पर रखकर बाजारमें बेचने जाता है और कभी मिट्टीका तसला सिर पर रख स्त्रियोंसे रोटी मांगने लगता है, कभी पुत्रादिकको खिलाने लगता है, कभी धान काटने जाता है, कभी राजादि बड़े अधिकारियोंके पास जाकर याचना करता है कि महाराजा ! मैं आजीविकाके लिए बहुत ही दुखी हूँ मेरी प्रतिपालना करें, कभी दो पैसे मजदूरीके लेकर दांती कमरमें लगाकर काम करनेके लिये जाता है, कभी रुपये दो रुपयेकी वस्तु खोकर रोता है, हाय ! अब मैं क्या करूँगा ? मेरा धन चोर ले गए ! मैंने धीरे-धीरे धन

इकट्ठा किया और उसे भी चोर ले गये, अब मैं अपना समय कैसे बिताऊँगा ? कभी नगरमें भगदड़ हो तो वह पुरुष एक लड़केको अपने कांधे पर बैठाता है और एक लड़केकी अँगुली पकड़ लेता है और स्त्री तथा पुत्रीको अपने आगे कर, सूप, चालनगी, मटकी, झाडू आदि सामानको एक टोकरीमें भरकर अपने सिर पर रखकर, एक दो गूदड़ोंकी गठरी बांधकर उस टोकरी पर रख आधी रातके समय नगरसे बाहर निकलता है ! उसे मार्गमें कोई राहगीर मिलता है, वह (राहगीर) उस पुरुषको पूछता है, हे भाई आप कहां जाते हैं ? तब वह उत्तर देता है कि इस नगरमें शत्रुओंकी सेना आई है इसलिये मैं अपना धन लेकर भाग रहा हूं और दूसरे नगरमें जाकर अपना जीवनयापन करूँगा इत्यादि नाना प्रकारका चरित्र करता हुआ **वह कल्पवासी देव उस गरीबके शरीरमें रहते हुए भी अपने सोलहवें स्वर्गकी विभूतिको एक क्षणमात्र भी नहीं भूलता है, वह अपनी विभूतिका अवलोकन करता हुआ सुखी हो रहा है । उसने गरीब पुरुषके वेषमें जो नाना प्रकारकी क्रियायें की हैं—वह उनमें थोड़ासा भी अहंकार-ममकार नहीं करता,** वह सोलहवें स्वर्गकी देवांगना आदि विभूति और देव स्वरूपमें ही अहंकार-ममकार करता है ।

उस देवकी तरह मैं सिद्ध समान आत्मा द्रव्य, मैं पर्यायमें नाना प्रकारकी चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष-लक्ष्मीको नहीं भूलता हूं तब मैं लोकमें किसका भय करूं ?"

तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि शरीरसे ममत्व छुड़ाता है[1]—अहो ! इस शरीरसे ममत्व छोड़ [illegible]

---

१. [illegible]

संयोग सम्बन्ध था सो अब पूर्ण हो गया। अब इस शरीरसे तेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं सधेगा इसलिए तू अब मेरेसे मोह छोड़ और विना प्रयोजन खेद मत कर। यदि तेरा रखा हुआ यह शरीर रहे तो रख, मैं तो तुझे रोकता नहीं और यदि तेरा रखा यह शरीर न रहे तो मैं क्या करूं? यदि तू अच्छी तरह विचार करे तो तुझे ज्ञात होगा कि तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ। स्त्री-पुरुषकी पर्याय तो पुद्गलका रूप है अतः पौद्गलिकसे कैसी प्रीति? यह जड़ और आत्मा चैतन्य; ऊँट-बैलका सा इन दोनोंका संयोग कैसे बने? तेरी पर्याय है उसे भी चंचल ही जान। तू अपने हितका विचार क्यों नहीं करती? हे स्त्री! मैंने इतने दिन तक तुम्हारे साथ सहवास किया उससे क्या सिद्धि हुई और इन भोगोंसे क्या सिद्धि होनी है। व्यर्थ ही भोगोंसे हम आत्माको संसारचक्रमें घुमाते हैं। भोग करते समय हम मोह वश होकर यह नहीं जानते कि मृत्यु आवेगी और तत्पश्चात् तीन लोककी संपदा भी मिथ्या हो जाती है। इसलिये तुझे हमारी पर्यायके लिये खेद खिन्न होना उचित नहीं है। यदि तू हमारी प्रिय स्त्री है तो हमें धर्मका उपदेश दे यही तेरा वैयावृत्य करना है। अब हमारी देह नहीं रहेगी, आयु तुच्छ रह गई है इसलिये तू मोह कर आत्माको संसारमें क्यों डुबोती है! यह मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। यदि तू मतलब ही के लिये हमारी साथिन है तो तू तेरी जाने। हम तुम्हारे डिगानेसे डिगेंगे नहीं। हमने तुझे दया कर उपदेश दिया है। तू मानना चाहे तो मान, नहीं माने तो तेरा जैसा होनहार होगा वैसा होगा। हमारा अब तुमसे कुछ भी मतलब नहीं है इसलिये अब हमसे ममत्व मत कर। हे प्रिये! परिणामोंको शांत रख, आकुल मत हो। यह आकुलता ही संसारका बीज है।"

इसप्रकार स्त्रीको समझाकर सम्यग्दृष्टि उसे विदा करता है तत्पश्चात् वह कुटुम्ब परिवारके अन्य व्यक्तियोंको बुलाकर उन्हें संबोधित करता है।

"अहो कुटुम्बीगण ! अब इस शरीरकी आयु तुच्छ रही है। अब हमारा परलोक नजदीक है इसलिए हम आपको कहते हैं कि आप हमसे किसी बातका राग न करें । आपके और हमारे चार दिनका संयोग था कोई तल्लीनता तो थी नहीं । जैसे सरायमें अलग अलग स्थानोंके राही दो रात ठहरें और फिर बिछुड़ते समय वे दुःखी हों ! इसमें कौनसा सयानापन है । इसी प्रकार हमें बिछुड़ते समय दुःख नहीं है किन्तु आप सबसे हमारा क्षमाभाव है । आप सब आनन्दमयी रहें । यदि आपकी आयु बाकी है तो आप धर्म सहित व राग रहित होकर रहो । अनुक्रमसे आप सबकी हमारी सी स्थिति होनी है । इस संसारका ऐसा चरित्र जानकर ऐसा बुधजन कौन है जो इससे प्रीति करे !"

कुटुम्ब-परिवारवालोंको इस प्रकार समझाकर सम्यग्दृष्टि उन्हें सीख देता है । तत्पश्चात् वह अपने पुत्रोंको बुलाकर समझाता है—

अहो ! पुत्रों ! आप सब बुद्धिमान हैं, हमसे किसी प्रकारका मोह नहीं करें । जिनेश्वरदेवके धर्मका भली प्रकार पालन करें । आपको धर्म ही सुखकारी होगा । कोई व्यक्ति माता-पिताको सुखकारी मानता है यह मोहका ही माहात्म्य है । वस्तुतः कोई किसीका कर्त्ता नहीं । कोई किसीका भोक्ता नहीं है सब पदार्थ अपने अपने स्वभावके कर्त्ता-भोक्ता हैं इसलिये अब हम आपको पुनः समझाते हैं कि यदि आप व्यवहारतः हमारी आज्ञा मानते हैं तो हम जैसे कहें वैसे करें । "सच्चे देव, धर्म, गुरुकी दृढ़ प्रतीति करो, साधर्मियोंसे मिलाप करो, पराश्रयकी इच्छा छोड़ो, दान, शील, तप, संयमसे अनुराग करो, स्व-पर भेदविज्ञानका उपाय करो और सरागी पुरुषोंके संसर्गको छोड़ो । यह जीव संसारमें सरागी जीवोंकी संगतिसे अनादि कालसे ही दुःख पाता है इसलिये उनकी संगति अवश्य छोड़नी चाहिये । धर्मात्मा पुरुषोंकी संगति इस लोक और परलोक दोनोंमें सुखकारी है । इस लोकमें तो निराकुलतारूपी सुखकी और परकी

प्राप्ति होती है और परलोकमें वह स्वर्गादिकका सुख पाकर मोक्षमें शिवरमणीका भर्त्ता होता है और वहां पूर्ण निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम बाधारहित, शाश्वत अविनाशी सुख भोगता है। इसलिये हे पुत्रो! यदि तुम्हें हमारे वचनोंकी सत्यता प्रतीत हो तो हमारे वचन अंगीकार करो, इसमें तुम्हारा हित होता दिखे तो करो और यदि हमारे वचन झूठे लगें और इनसे तुम्हारा अहित होता दिखे तो हमारे वचन अङ्गीकार मत करो। हमारा तुमसे कोई प्रयोजन नहीं किन्तु तुम्हें दया बुद्धिसे ही यह उपदेश दिया है इसलिये इसे मानो तो ठीक और न मानो तुम अपनी जानो।"

तत्पश्चात् सम्यक्‌दृष्टि पुरुष अपनी आयु थोड़ी जानकर दान, पुण्य, जो कुछ उसे करना होता है, स्वयं करता है।

तदनन्तर उसे जिन पुरुषोंसे परामर्श करना होता है उनसे कर वह निःशल्य हो जाता है और सांसारिक कार्योंसे सम्बन्धित जो स्त्री-पुरुष हैं उनको विदा कर देता है और धार्मिक कार्योंसे सम्बन्धित पुरुषोंको अपने पास बुलाता है और जब वह अपनी आयुका अन्त अति निकट समझता है तब यावज्जीवन सर्व प्रकारके परिग्रह और चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है और समस्त परिग्रहका भार पुत्रोंको सोंपकर स्वयं विशेषरूपसे निःशल्य-वीतरागी हो जाता है। अपनी आयुके अन्तके सम्बन्धमें सन्देह होने पर दो-चार घड़ी, प्रहर, दिन आदिकी मर्यादा पूर्वक त्याग करता है।

तत्पश्चात् वह चारपाईसे उतरकर जमीन पर सिंहकी तरह निर्भय होकर बैठता है जैसे शत्रुओंको जीतनेके लिये सुभट उद्यमी होकर रण-भूमिमें प्रविष्ट होता है। इस स्थितिमें सम्यग्दृष्टिके अंशमात्र आकुलता भी उत्पन्न नहीं होती।

उस शुद्धोपयोगी सम्यक्‌दृष्टि पुरुषके मोक्षलक्ष्मीका पाणिग्रहण करनेकी तीव्र इच्छा रहती है कि अभी मोक्षमें जाऊँ। उसके हृदय

पर मोक्ष लक्ष्मीका आकार अङ्कित रहता है और इस कारण वह किंचित् भी राग परिणति नहीं होने देता है और इस प्रकार विचार करता है कि "राग परिणतिने मेरे स्वभावमें थोड़ासा भी प्रवेश किया तो मुझे वरण करनेको उद्यत मोक्षलक्ष्मी लौट जायेगी, इसलिए मैं राग परिणतिको दूर ही से छोड़ता हूँ।" वह ऐसा विचार करता हुआ अपना काल पूर्ण करता है उसके परिणामों में निराकुल आनंद-रस रहता है, वह शांतिरससे अत्यन्त तृप्त रहता है। उसके आत्मिक सुखके अतिरिक्त किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है। उसे केवल अतीन्द्रिय सुखकी वांछा है और उसीको भोगना चाहता है इसप्रकार वह स्वाधीन एवं सुखी हो रहा है।

उसे यद्यपि साधर्मियोंका संयोग सुलभ है तो भी उसे उनका संयोग पराधीन होनेसे आकुलतादायी ही लगता है और वह यह जानता है कि निश्चयतः इनका संयोग सुखका कारण नहीं है। सुखका कारण एक मेरा शुद्धोपयोग ही है जो मेरे पास ही है अतः मेरा सुख मेरे आधीन है।

सम्यग्दृष्टि इसप्रकार आनंदमयी हुआ शान्त परिणामोंसे सुख समाधिमरण करता है।

पं० श्री भागचन्द्रजी कृत

(आध्यात्मिक भजन)

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसें, आतमरूप अबाधित ज्ञानी ।।टेक।।
रागादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानी ।
दहन दहत ज्यों दहन न तदगत, गगन दहन ताकी विधिठानी ।। सं० ।।
वरणादिक विकार पुद्गलके, इनमें नहिं चैतन्य निशानी ।
यद्यपि एक क्षेत्र अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी ।। सं० ।।
मैं सर्वांगपूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी ।
मिलौ निराकुल स्वाद न यावत, तावत पर परनति हितमानी ।।सं.।।
भागचन्द्र निरद्वन्द निरामय, मूरति निश्चय सिद्ध समानी ।
नित अकलंक अवंक शंक बिन, निर्मल पंक बिना जिमि पानी ।।सं.।।

[२]

जब निज आतम अनुभव आवै, तब और कछु न सुहावै ।
रस नीरस हो जात ततच्छिन, अक्ष-विषय नहिं भावै ।। १ ।।
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नशावै ।। २ ।।
राग-द्वेष जुग चपल पक्ष जुत, मन पक्षी मर जावै ।। ३ ।।
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै ।। ४ ।।
भागचन्द ऐसे अनुभवको हाथ जोरि सिर नावै ।। ५ ।।

"मनमोद छंद"

आत्मज्ञानी अध्यात्मविशारद ब्रह्मचारी श्री धर्मदास

—: क्षुल्लकजी महाराज कृत :—
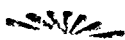
ॐ नमः सिद्धेभ्यः अथ मनमोद छंद लिख्यते—

(दोहा)

धर्मनाथ कूं वंदि करि धर हिरदै संतोष ।
धर्मदास क्षुल्लक कहै तुरतहि पाऊँ मोक्ष ॥१॥
चिदानंद कूं नमस्कार करूं भाव उर लाय ।
तीनलोक व्यापक सही सतगुरु दियो बताय ॥२॥

सम्यक्दृष्टि लक्षण

(दोहा)

जाग्रत में जागत भलो सदा जागतो सार ।
समदृष्टि सोवत नहीं कर देखो निरधार ॥१॥
तीन अवस्था है तुरी जाग्रत स्वप्न विचार ।
तीन अवस्था है तुरी जाग्रत स्वप्न विचार ।
सुषुप्ती तीजी खरी नहिं सोवै सो सार ॥२॥
राग-द्वेष अरु वैर सूं है अतीत सो सार ।
सो समदृष्टि जागिये मन में करो विचार ॥३॥
नहीं नींद नहिं मोह में नहीं जगत के माहिं ।
समदृष्टि सो ही भलो है प्रसिद्ध घट माहिं ॥४॥
सो ही सबकूं जागतो है सो सबनें दूरि ।
समदृष्टि को जागिये अज्ञान को दूरि ॥५॥
निद्रा पंच प्रकार की सो इनके नहिं होय ।
धर्मदास साखी लिखै अंतर घट में जोय ॥६॥

मिथ्यादृष्टि लक्षण

(दोहा)

नेत्र सै वो देखतो नेत्र कूं देखत नाहिं ।
ताकूं अंधो जाणिये इसी जगत के मांहि ॥१॥
भला ज्ञान सै जाणतो ज्ञानकूं जाणत नाहिं ।
सो अज्ञानी है बुरो इसी जगत के मांहि ॥२॥
तन-मन-धन अरु वचन कूं रूप आपको मानि ।
मूढमती सो होरह्यो सो मिथ्यादृष्टि जानि ॥३॥

अन्येन भाव से जिन प्रतिमा का दर्शन किया क्षुल्लक धर्मदास ताका

(कवित्त दोय)

अभेद बुद्धि सै जो दर्शनकरि जिनजीका,
सो ही जीव पुन्यवान जग में प्रधान है ।
जिनजी अनंत गुण राजत है घट मांही,
मेरा मोकूं दीषै नाहीं सरल जु सांति है ॥
प्रतितीके अर्थ सेती आयो मैं हरष धरि,
भात कोती ग्राम मध्ये नाभिनंदन तिष्ठे है ।
जिनका दरस करि नमस्कार वारूंवार,
एकमेक मिल गीयो धर्मदास जिन है ॥१॥
जिनरूप मेरोरूप एक ही दरस गयो,
भ्रम नाहीं भावना ही भय नाहीं कीजिये ।
जिनके दरस सेती आनंद अपार आयो,
दुख नाहीं होवे अब सोही काम कीजिये ॥
आदिनाथ आदिदेव तिनकी अपार गति,
मन में हरष धर दरशण कीजिये ।

धर्मदास क्षुल्लक व्रत अवधार करि,

जिनजी के पास जाय भाव पूजा ठानिये ।।२।।

(दोहा)

धर्मदास की विनती सुणले मेरे माय ।

पुत्र तुमारो हूँ सही क्षमा करो अब आय ।।१।।

बेर-बेर विनती करुं हे जननी सिरताज ।

आत्मज्ञान बतायदे मेरा सुधरे काज ।।२।।

नमूं निरंतर भाव स तुम तैं छानी नांहि ।

निजपुरी में बैठायदे भ्रमण दूरि हो जायि ।।३।।

अनुभव ज्ञान लावणी

(छंद दोहा)

प्रश्न—कहो क्षुल्लक महाराजजी धर्मदासजी नाम ।

कोण देश के मुलक में रहते हो किस धाम ।।

उत्तर—देश हमारा मुलक की महिमा अपरंपार ।

कहाता हूं तुमसा भलो चेतन चित सिंगार ।।

(लावणी)

मेरा मुलक की महिमा अद्भुत सुण लेणा चेतन भाई ।

तत्र देश में येकरूप हूं येकरूप ही में गाई ।।टेक।।

राव-रंक अरु राजा नाही देश धणी को लेश नहीं ।

शहर अनूपम माहि बसत है लघु ग्राम को काम नहीं ।।

तत्र देश में जनम-मरण हम नहीं देख्यो सुण भाई ।

स्त्री पुरुष का जोड़ा नाही येक भाव ही है भाई ।।मेरा०।।१।।

पवन पाणी का कण का नाही अगनि को नाहि लेश नहीं ।

चंद्र-सूर्य अर तारा नखती इस देश में नहि भाई ।।

प्रातःकाल अर सांझ नाही दिवस रात का भेद नहीं ।

देशकाल वेद रहता है तो चतुर्दिशा में नहि जाई ।।मेरा०।।२।।

देसपाल के देह नहीं है मन-मायाको खोज नहीं ।
मन का विकल्प चितवन नाही अहंकार को अंश नहीं ।।
राजाजी को नांव नहीं है विना नांव को है भाई ।
कामदार और करता नाही नौकर चाकर नहि भाई ।मेरा०।।३।।

सर्व मुलक की महिमा है सो वचन जाल मैं नहि आवे ।
वचन अगोचर देश वसत है तिनकी महिमा को गावे ।।
धर्मदास क्षुल्लकजी गावै सबके मन मैं भ्रम आवै ।
शिष्य हमारा हो जावो तो भरम तुमारा गुम जावै ।मेरा०।४।

समकृतार्थ संबोधन

(छंद)

समकेत बिना हो प्राणी, स्वस्वरूप की रीत न जाणी ।।टेक।।

नित श्रवण करी जिनवाणी, जिन गुण गाये बहुताणी ।
सत्यारर्थ जिनागम कथिया, तत्वारथ सूत्र जो भणिया ।।१।।
दशविध धरम शुभ पाले, त्रयोदश चारित्र संभाले ।
बहु तप उपवास करीजे. देही शोषण भाव धरीजे ।।सम०।।२।।
मुनि लिंग धार बहु फिरिया, शीतादिक बाधा सहिया ।
शुभ भावना भाव लगाये, निज रूप कवी नहि पाये ।।सम०।३।
कमंडलु पीछी अब लीना, क्षुल्लक व्रत धार नवीना ।
जिनराज धर्म नहि चीना, हुये बुद्धि ज्ञान विहीना ।।सम०।।४।।
तन-मन-वचन के माही, नाही समकत है सुण भाई ।
क्षुल्लक धर्मदास ज्यों पाई, सो कहता नाहि रे भाई ।।सम०।।५।।

(दोहा)

लिखणा-पढ़णा मे नहीं, जोग जुगत मं नाहि ।
जगत लोक मै है नहीं, समकत राणी माय ।। ६ ।।

(पद)

नजर न आवै आतम ज्योति पंडित देख विचारोजी येती ।।टेक।।
आतम ज्योती न छोटी न मोटी भीतर बाहर कोई न लपटी ।।नजर०।।
लाल नहीं, नहिं काली न पीली, धोवलि धूमर न वा निली ।। नजर०।।
आतम ज्योति न सोति न जगती, धरमदास सै निशदिन रमती ।नजर०।।

पुनः

वा घर की केई नाहि न बोलै जा घर सै जीव आया रे ।।टेक।।
कोई तो कहत है जीव अनादि, कोई कहत है नाही रे ।।वा घर०।।
नरक निगोद च्यार गती माही, फिरता जीव भरमाया रे ।।वा०।।
ऐसी कथनी सब कोहु गावै, गावत-गावत भूल्या रे ।। वा घर० ।।
धर्मदास ढूंढत-ढूंढत अब, दिल का दिल में पाया रे ।।वा घर०।।

मतवाले की लावणी

आप रूप वह जाणत नांही मतवाला तिनकूं कहिये ।
उनकी अब कछु कहु हकी गति सुणलै चेतनधार हिये ।।टेक।।
भ्रंगी पान वारुणी पीकै मतवाले हो चलत भये ।
तैसे ही मत-मदरा पीकै जैनी जन मतवाल भये ।।
शिवमत वाले वेदांती अब विष्णुमति मतवाल भये ।
धर्मदास सब मतवाले कूं जाणत भाई ज्ञान हिये ।।आप०।।१।।

मुसलमीन मतवाले भाई श्वेताम्बर मतवाल भये ।
मत मदरा कूं पीकं देखो ढूंढमति मतवाल भये ।।
संवेगी मतवाल भाई कबीर मत, मतवाल भये ।
धर्मदास सब मतवाले कूं जाणत भाई ज्ञान हिये ।।आप०।।२।।

लिंगायत मतवाले भाई करनाटक में जाय रहे ।
मान भाउ के मतवाले अब ब्रह्ममती मतवाल भये।।

सांख्यमती मतवाले भाई बोधमती मतवाल भये ।
धर्मदास सब मतवाले कूं जाणत भाई ज्ञान हिये ।। आप०।।३।।
नैय्यायिक मतवाले भाई साहिब मती मतवाल भये ।
चारवाक् मतवाले भाई राजमती मतवाल भये ।।
गुसाई मतवाले भाई नानक मती 'मतवाल भये ।
धर्मदास सब मतवाले कूं जाणत भाई ज्ञान हिये ।।आप०।।४।।
तेरापंथी मतवाले अब येक पंथ कूं भूलि रहे ।
बीसपंथ मतवाले भाई गुमान पंथी घूम रहे ।।
दिगंबरी मतवाले भाई दशु दिशा में फैल रहे ।
धर्मदास सब मतवाले कूं जाणत भाई ज्ञान हिये ।।आप०।।५।।
मत मंदरा में माता नाहीं ऐसा ज्ञानी कोण भये ।
ज्ञान-ज्ञान कूं जाणे उनका हीये यह ख्याल भये ।।
मत मदरा कूं छोड़ दई सो गुणी भये निज घट मांही ।
धर्मदास क्षुल्लक कहे येह गाई भेमराज गुण हरषाये ।।आप०।।६।।

मन (लावणी)

मन चंचल तो जरा न ठहरे मनका बांका तीर चलै ।
मन काटो तो कटै न किस सैं मन कूं जलादो तो नही जलै ।टेक।
मान हुवो सो मन सं भाई मन की [illegible] ज्ञान खरी ।
मन मारा की मिली दोस्ती ऐसी रचना हुई खरी ।।
माघनंद मुनि मन सैं बिगड़े मन सैं ज्ञान [illegible] पड़ी ।
कुम्भकार की बेटी परणी मन सैं देखो उली पडी ।।मन०।।१।।
मन सैं मारी रावण देखो रामचन्द्र की नारि हरी ।
महादेवजी मन सैं हुवा भूली [illegible] शील धरी ।।
[illegible]
मन से [illegible]

लेणा देणा मन सैं होवैं खाणा पीणा मन सैं ही ।
भला बुरा येह मन से होवै हर्ष शोक भी मन सैं ही ॥
भोग-जोग-गमन मन सैं होवै राजरीत ही मन सैं ही ।
कहणा-सुणणा मन सैं होवे मुनी धर्म भी मन सैं ही ॥मन०॥३॥

हटक-हटक मन राखत है पण हट क्यों मन रहतो नांहीं ।
सटक-सटक चहु ओर जात है लटक लटक मन लोट गई ॥
गटक-गटक मन भोग करत है विषय वासना मान लही ।
हुटक-हुटक मन तान ताड़तो भटिक २ भटकात सही ॥मन०॥४॥

काम-क्रोध अरु लोभ मोह येह मन की फोज वड़ी वड़ी ।
ज्ञानी ध्यानी मानी मन सैं जटा वढाई वहुत वडी ॥
सर्व जगत में माया मन की देख शोदल्यो इसी घड़ी ।
धर्मदास क्षुल्लकजी मन सें न्यारा नाहीं येक घड़ी ॥मन०॥५॥

मन सें मन नहीं मरे देखल्यो मन मारण की रीत कहूं ।
ऊर्ध्व स्वास अर अधो स्वास के बीच विचारो क्या है जी ॥
जाहां मन नाहीं वहां तन नाही वाहां धन नाही—
—वा वचन वोलणा नहि है जी ।
धर्मदास क्षुल्लक वाहां नाही मन नाही नाही है जी ॥मन०॥६॥

मैं कौन हूँ ?

श्रीमद् राजचन्द्र कृत 'अमूल्य तत्त्व-विचार'

अनुवादक—'युगलजी' (कोटा) एम. ए. साहित्य रत्न

(हरिगीत छन्द)

वह पुण्य-पुंज-प्रसंगसे शुभ देह मानव का मिला,
तो भी अरे ! भवचक्रका फेरा न एक कभी टला ।
सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुक्ख जाता दूर है,
तू क्यों भयंकर-भावमरण-प्रवाह में चकचूर है ॥१॥
लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये-
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि ? कुछ नहिं मानिये ।
संसारका बढ़ना अरे ! नर देह की यह हार है,
नहीं एक क्षण तुमको अरे ! इसका विवेक विचार है ॥२॥
निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहां भी प्राप्त हो
यह दिव्य अंतःतत्त्व जिससे बन्धनोंसे मुक्त हो ।
'परवस्तुमें मूर्छित न हो' इसकी रहे मुझको दया,
वह सुख सदा ही त्याज्य रे ! पश्चात् जिसके दुःख भरा ॥३॥
मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?
संबंध दुखमय कौन है ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?
इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक-ज्ञानके सिद्धान्त का रस पीजिये ॥४॥
किसका वचन उस तत्त्वकी उपलब्धिमें शिवभूत है,
निर्दोष नरका वचन रे ! वह स्वानुभूति प्रसूत है !
तारो अरे तारो निजात्मा शीघ्र अनुभव कीजिये,
'सर्वात्ममें समदृष्टि दो' यह वच हृदय लिख लीजिये ॥५॥

श्री अमितगति आचार्य विरचित

सामायिक पाठ

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तो सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥
शरीरतः कर्त्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥
दुःखे सुखे वरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भवने वने वा ।
निराकृता शेषममत्वबुद्धेः सम मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥३॥
मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव स्थिरौ निपाताविव विम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥
एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः, प्रमादतः सचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्न मिलिता निपीडिता, तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ।५।
विमुक्ति मार्ग प्रतिकूलवर्त्तिना मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं तदस्तुमिथ्यामम दुष्कृतप्रभो ॥६॥
विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनोवचः कायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥
अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं जिनातिचारं सुचरित्रकर्म्मणः ।
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥
क्षतिं मनः शुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रम शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥
यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वति केवल बोधलब्धिम् । १०॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदात्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥
आत्मानमात्मान्यवलोकमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥
एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥
यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्र कलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः । कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥
संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥
सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरथकं तदा ॥३०॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥
यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः, सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥

(दोहा)

इति द्वात्रिंशतिवृत्तैः, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥

सामायिक पाठ

[हिन्दी पद्यानुवादक 'युगलजी' (कोटा) एम. ए., साहित्यरत्न]

प्रेमभाव हो सब जीवों से, गुणीजनों में हर्ष प्रभो।
करुणा-श्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥१॥
यह अनन्त बल शील आत्मा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
'ज्यों होती तलवार म्यान से,' वह अनन्त बल दो मुझको ॥२॥
सुख दुख, बैरी बन्धुवर्ग में, कांच कनक में समता हो।
वन उपवन, प्रासाद-कुटी में, नहीं खेद नहीं ममता हो ॥३॥
जिस सुन्दरतम-पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ।
वह सुन्दर पथ ही प्रभु मेरा, बना रहे अनुशीलन-पथ ॥४॥
एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो ॥५॥
मोक्षमार्ग प्रतिकूल प्रवर्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से ॥ ६ ॥
चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि उपांत।
अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूँ पापों को शांत ॥ ७ ॥
सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत विपरीत-प्रवर्तन करके शीलाचरण विलीन किया ॥ ८ ॥
कभी वासना की सरिता का, गहन-सलिल मुझ पर छाया।
पी पी कर विषयों की मदिरा, मुझ में पागलपन आया ॥ ९ ॥
मैंने छली और मायावी, हो असत्य-आचरण किया।
पर निन्दा गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया ॥१०॥
निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे ॥११॥
मुनि, चक्री, शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।

गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे ।। १२ ।।
दर्शन-ज्ञान-स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये ।
परम ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे ।।१३।।
जो भव दुख का विध्वंसक है, विश्व विलोकी जिसका ज्ञान ।
योगी-जन के ध्यान गम्य वह, वसे हृदय में देव महान ।। १४ ।।
मुक्ति मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म मरण से परम अतीत ।
निष्कलंक त्रैलोक्य-दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप ।।१५।।
निखिल-विश्व के वशीकरण के, राग रहे न द्वेष रहे ।
शुद्ध अतिन्द्रिय ज्ञान स्वरूपी, परमदेव मम हृदय रहे ।। १६ ।।
देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म कलंक विहीन विचित्र ।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे यह हृदय पवित्र ।।१७।।
कर्म-कलंक-अछूत न जिसका, भीक न छू सके दिव्य प्रकाश ।
मोह तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त ।।१८।।
जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पड़ता दिव्य प्रकाश ।
स्वयं ज्ञानमय स्वपर प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त ।।१९।।
जिसके ज्ञान रूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ ।
आदि अन्त से रहित, शांत, शिव, परम शरण मुझको वह आप्त ।।२०।।
जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव ।
भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव ।।२१।।
तृण, चौकी, शिल, शैल शिखर नहीं आत्म समाधी के आसन ।
संस्तर, पूजा संघ सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन ।।२२।।
इष्ट-वियोग अनिष्ट योग में, विश्व मनाता है मातम ।
हेय सभी हैं विश्व वासना, उपादेय निर्मल आतम ।। २३ ।।
बाह्य जगत कुछ भी नहिं मेरा, और न वाह्य जगत का मैं ।
यह निश्चय कर छोड़ वाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमे ।।२४।।
अपनी निधि तो अपने में है, वाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास ।

जग का सुख तो मृग तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥२५॥

अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥ २६ ॥

तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो-सुत, तिय मित्रों से कैसे ?
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहें कैसे ? ॥ २७ ॥

महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
मोक्षमार्ग का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग ॥२८॥

जो संसार पतन के कारण, उन विकल्पमय जालों को छोड़।
निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व आत्मा फिर, फिर लीन उसी में हो ॥ २९ ॥

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करें आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥३०॥

अपने कर्म सिवाय जीवको, कोई न फल देता कुछ भी।
'पर देता है' यह विचार तज, थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि ॥३१॥

निर्मल, सत्य, शिवं सुन्दर है, अमितगति वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ॥३२॥

"बोधाष्टक एवं जिनवाणी इक्कीसी"

व्यवस्थापक, प्रमोद कुमार जैन, बी.काम., खंडवा (म.प्र.)

प्रिय, पाठकों ! मुझे अलंकारों, छंदों, मात्राओं व हिन्दी व्याकरण का विशेष ज्ञान नहीं है तो भी मैं मेरे विचार मां जिनवाणी सम्बन्धी व्यक्त कर रहा हूँ।

इसमें कुछ त्रुटि हो उसे विद्वान पाठक गण सुधार कर पढ़ें ! जो त्रुटि व भूलें हो उसकी सूचना मुझे अवश्य करें, ताकि आगामी प्रकाशन में भूल न रहने पाये !

"बोधाष्टक"

[१]

जिनने की मां की विराधना, वे स्वयं दुःख पायेंगे ।
बांधी पाप की गठड़ी वे, जन्म-जन्म पछतायेंगे ।।

[२]

जिनवाणी की विराधना, भगवान अपमान है ।
निज आतम दर्शन करे, गुरु कुन्द का फरमान है ।।

[३]

करो न मां की विराधना, अन्य को करने न दो ।
धर्म रक्षक तुम बनो, धर्म भक्षक मत बनो ।।

[४]

होवे न मां की विराधना, करे सभी ज्ञानामृत पान ।
लड़ो न आपस में कभी, करो स्व-पर कल्याण ।।

[५]

मांग क्षमा मां से तुम, करो सत्य श्रद्धान ।
करो सेवा जिनवाणी की, करने स्व-पर-कल्याण ।।

[६]

मां से लेकर ज्ञान पूंजी हम, करें ज्ञान व्यापार।
जीतें मोह बली को हम, करें स्व-पर-उद्धार ॥

[७]

मां से मिलेगी सुदृष्टि हमको, हो जावेगा सच्चाज्ञान।
ज्ञान-ज्ञान को जानले, बन जावे स्वयं भगवान् ॥

[८]

मां है दर्पण हम-तुम-सबका।
लोक-अलोक अरु सिद्ध जगत का ॥

(दोहा)

यह बोधाष्टक पाठ को पढ़े जो देकर ध्यान।
करे न मां की विराधना, करले निज कल्याण ॥

"जिनवाणी इक्कीसी"

[१]

[३]

जिनवाणी वही सुन सकता है जो संसार से भयभीत है ।
जिन वचन वही पचा सकता है जो धीर व गंभीर है ॥
बाहर के दुश्मनों को पराजित करने वालों—
आत्म शत्रु को वही जीत सकता है जो सच्चा वीर है ॥

[४]

जिनवाणी के विना साधना नहीं होती ।
निर्मलता के विना उपासना नहीं होती ॥
इष्ट सिद्धि के लिये माला फेरने वालों—
अध्यात्म के विना आराधना नहीं होती ॥

[५]

जिनवाणी का अस्तित्व होता नहीं जहाँ मुमुक्ष नहीं है ।
भौंरे वहां जाते नहीं जिस फूल में सुगन्ध नहीं है ॥
निभा सकते हैं व्यवहार ऊपर का सब—
पर जिनमर्म वहां खिलता नहीं जहां आत्मीय संबंध नहीं है ॥

[६]

जिनवाणी के विना अंतर में प्रकाश नहीं है ।
विना गुरु के विद्या का विकास नहीं है ॥
पर आश्चर्य की वात तो यह है कि—
जैनियों का जिनवाणी पर विश्वास नहीं है ॥

[७]

जिनवाणी के विना, आल्हाद नहीं होता ।
नींव के विना, प्रासाद नहीं होता ॥
धन के संग्रह में, लीन रहने वालों—
दर्शन मूल के विना निर्वाण नहीं होता ॥

[८]

जिनवाणी की विराधना से कोई गुणवान नहीं होता ।
जिन शास्त्रों को रौंदने से कोई पहलवान नहीं होता ॥
सद्गुरुओं को दोष न लगाओ थोड़ा गहराई से सोचो-
अनुचित बातें करने से कोई महान नहीं होता ॥

[९]

जिनवाणी के बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता ।
केवल अक्षर ज्ञान से कोई विद्वान नहीं होता ॥
जिनवाणी की विराधना करने वालों-
जिनवाणी के बिना आत्म कल्याण नहीं होता ॥

[१०]

जिनवाणी जपने से मन का विकार जाता है ।
जिनवाणी में खपने से गुण विस्तार पाता है ॥
अन्तर मन से सोचो संत की भांति-
जिनवाणी में रमने से भव का अंत हो जाता है ॥

[११]

वह समाज किस काम का जिसमें जिनवाणी का सम्मान न हो ।
वह मानव किस काम का जिसके सुन्दर विचार न हों ॥
धनोपार्जन में जीवन लगाने वालों-
वह धन किस काम का जिससे जिनवाणी प्रचार न हो ॥

[१२]

[illegible] में [illegible] होना चाहिए ।
[illegible] [illegible] ॥
[illegible] समाज का उत्कर्ष करना है तो-
[illegible] जिनवाणी का [illegible] ॥

[१३]

जिनवाणी के पथ पर संसार में चलता है कोई-कोई ।
मोक्ष मंजिल पाने के लिए बढ़ता है कोई-कोई ।।
सब प्रवीण हैं अध्यात्म की बातें करने में, मगर-
संत की भांति संसार का अंत करता है कोई कोई ।।

[१४]

जिनवाणी के शिखर पर चढ़ता है कोई-कोई ।
विनय एवं नम्रता से पढ़ता है कोई-कोई ।।
सोया पड़ा है सारा संसार मोह नींद में-
भव अंत करने के लिये जागता है कोई-कोई ।।

[१५]

जिनवाणी की गूढ़ दृष्टि पहचानना आसान नहीं है ।
गुरू बिना प्रवीण भी ज्ञान पाता नहीं है ।।
किसी का उपकार करना हमारा कर्त्तव्य है, पर-
गुरू का उपकार मानना कोई एहसान नहीं है ।।

[१६]

वह शास्त्र ही क्या जिसमें वीतरागता नहीं है ।
वह औषध ही क्या जिसमें रोग का उपचार नहीं है ।।
धर्म का ढोंग करने वाले बहुत मिलेंगे पर—
वह धर्मात्मा क्या जिसे जिनवाणी से प्यार नहीं है ।।

[१७]

वीतरागता के बिना धर्म भी निस्सार होता है ।
गति के बिना वाहन भी बेकार होता है ।।
नये नये आविष्कार की होड़ में खपने वालों—
धर्म के बिना मानव भी धरती पर भार होता है ।।

[१८]

यदि शास्त्र नष्ट होने लगे तो समाज का क्या होगा ।
यदि अंदर की शरम निकल गई तो ऊपर की लाज से क्या होगा
धर्म प्रचार के स्वप्न को साकार करने वालो-
धर्म रक्षक ही भक्षक बन गये तो धर्म का क्या होगा ।।

[१९]

समुद्र का महत्व सलिल से नहीं गंभीरता से है ।
साधु का महत्व नग्नता से नहीं साधना से है ।।
जिनवाणी चिन्तन से ऐसा अनुभव होता है कि-
ज्ञानी का महत्व क्षयोपशम से नहीं अनुभूति से है ।

[२०]

जिनवाणी के संयोग से अज्ञ भी ज्ञानी बन जाता है ।
संतों के सत्संग से पापी बदल जाता है ।।
घबराना मत मैं तुम्हें सच कहता हूं-
चोर जैसा मानव भी भगवान बन जाता है ।।

[२१]

ज्ञान उसी का बढ़ेगा जो जिनवाणी में रमता है ।
समयसार उसी को मिलेगा जिसमें पुण्य पलता है ।।
प्रशंसा को सुनकर फूल पीन नहीं होता, किन्तु-
निंदा को वही सुन सकेगा जिसके दिल में समता है ।।

शुद्धि-पत्र

※

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२६	दःखी	दुःखी
११	१३	आहारन हीं	आहार नहीं
२०	५	तर्थकर	तीर्थंकर
२३	१०	ऐतो सा	तो ऐसा
२८	१६	वावरो	वावारो
५३	२२	सर्वज्ञरू	सर्वज्ञका
१०७	११	ज	जो
११३	४	माथ	माय
११३	८	स	सैं
११३	१५	तुमसा भलो	तुम सामलो
११७	२०	आन	आनी
११८	३	ही	हो
१२३	१०	वरा	बना
१२४	१२	भीक	कभी

[१३]

जिनवाणी के पथ पर संसार में चलता है कोई-कोई ।
मोक्ष मंजिल पाने के लिए बढ़ता है कोई-कोई ।।
सब प्रवीण हैं अध्यात्म की बातें करने में, मगर-
संत की भांति संसार का अंत करता है कोई कोई ।।

[१४]

जिनवाणी के शिखर पर चढ़ता है कोई-कोई ।
विनय एवं नम्रता से पढ़ता है कोई-कोई ।।
सोया पड़ा है सारा संसार मोह नींद में-
भव अंत करने के लिये जागता है कोई-कोई ।।

[१५]

जिनवाणी की गूढ़ दृष्टि पहचानना आसान नहीं है ।
गुरू बिना प्रवीण भी ज्ञान पाता नहीं है ।।
किसी का उपकार करना हमारा कर्त्तव्य है, पर-
गुरू का उपकार मानना कोई एहसान नहीं है ।।

[१६]

वह शास्त्र ही क्या जिसमें वीतरागता नहीं है ।
वह औषध ही क्या जिसमें रोग का उपचार नहीं है ।।
धर्म का ढोंग करने वाले बहुत मिलेंगे पर—
वह धर्मात्मा क्या जिसे जिनवाणी से प्यार नहीं है ।।

[१७]

वीतरागता के बिना धर्म भी निस्सार होता है ।
गति के बिना वाहन भी बेकार होता है ।।
नये नये आविष्कार की होड़ में खपने वालों-
धर्म के बिना मानव भी धरती पर भार होता है ।।

[१८]

यदि शास्त्र नष्ट होने लगे तो समाज का क्या होगा।
यदि अंदर की शरम निकल गई तो ऊपर की लाज से क्या होगा
धर्म प्रचार के स्वप्न को साकार करने वालो-
धर्म रक्षक ही भक्षक बन गये तो धर्म का क्या होगा॥

[१९]

समुद्र का महत्व सलिल से नहीं गंभीरता से है।
साधु का महत्व नग्नता से नहीं साधना से है॥
जिनवाणी चिन्तन से ऐसा अनुभव होता है कि-
ज्ञानी का महत्व क्षयोपशम से नहीं अनुभूति से है।

[२०]

जिनवाणी के संयोग से अज्ञ भी ज्ञानी बन जाता है।
संतों के सत्संग से पापी बदल जाता है॥
घबराना मत मैं तुम्हें सच कहता हूँ-
चोर जैसा मानव भी भगवान बन जाता है॥

[२१]

साधन उसी का सधेगा जो जिनवाणी में रमता है।
समयसार उसी को मिलेगा जिसमें पूर्ण क्षमता है॥
प्रवचन को सुनकर खुश कौन नहीं होता, किन्तु-
[illegible]दा को वही सुन सकेगा जिसके दिल में रमता है॥

शुद्धि-पत्र

※

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२६	दःखी	दुःखी
११	१३	आहारन हीं	आहार नहीं
२०	५	तर्थंकर	तीर्थंकर
२३	१०	ऐतो सा	तो ऐसा
२८	१६	वावरो	वावारो
५३	२२	सर्वज्ञरू	सर्वज्ञका
१०७	११	ज	जो
११३	४	माथ	माय
११३	८	स	सैं
११३	१५	तुमसा भलो	तुम सामलो
११७	२०	आन	आनी
११८	३	हीं	हो
१२३	१०	वरा	वना
१२४	१२	भीक	कभी